

## मनोगत

जैनधर्म/जिनधर्म जानने का बुद्धिपूर्वक प्रयास, ई.सन् 1956 के मई माह में बाहुबली (कुम्भोज-कोल्हापुर, महाराष्ट्र) में प्रारम्भ हुआ था। उस समय ब्र. माणिकचन्दजी भिंसीकर गुरुजी ने शिविर में जैन सिद्धान्त प्रवेशिका पढ़ाना चालू किया था। उन्होंने शिविर के पहले ही दिन, सर्वप्रथम कक्षा में स्पष्ट किया कि 'इस जगत्, दुनिया या विश्व का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता कोई सर्व शक्तिमान भगवान नहीं है।

'यह विश्व, अनादि-अनन्त होने से स्वयम्भू है, यह जिनधर्म की महान विशेषता है।' - यह सब सुनकर मुझे उस समय जो परम आनन्द हुआ था, वह शब्दातीत है। मेरा व्यक्तिगत विचार भी उस समय स्वाभाविकरूप से ऐसा ही था, आज भी है।

तदनन्तर पण्डित श्री आशाधरजी कृत सागारधर्माभूत का अध्ययन, मेरे शिक्षागुरु, माणगाँव निवासी श्री शान्तिकुमार पाटील गुरुजी द्वारा कक्षा दसवीं में प्रारम्भ हुआ था।

शैक्षणिक वर्ष, ई. सन् १९६१-६२ में पूज्य १०८ श्री समन्तभद्र मुनि महाराज के कृपा-प्रसाद एवं मेरे विशेष पुण्योदय के कारण महाराजजी के सान्निध्य में ही मुझे सर्वप्रथम मोक्षमार्गप्रकाशक तथा ग्रन्थाधिराज समयसार शास्त्र के स्वाध्याय का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। उसी वर्ष धर्ममाता ब्र. गजाबेन (भून) ने गोम्मटसार जीवकाण्ड पढ़ाना प्रारंभ किया था।

उस समय अध्यात्म ग्रन्थ समयसार एवं मोक्षमार्गप्रकाशक, मराठी भाषा में अनुवादित होकर स्वाध्याय के लिए प्रथम बार ही प्राप्त हुए थे। गोम्मटसार ग्रन्थ तो हम प्राकृत एवं हिन्दी भाषा के माध्यम से पहले से

ही पढ़ते थे। बाद में क्रम से आचार्य कुन्दकुन्द के सर्व परमागम ग्रन्थों का अध्ययन भी ब्र. गजाबेन (भून) के साथ ही किया था। उस समय मूलतः प्राकृत-संस्कृत भाषा के माध्यम से स्वाध्याय चलता था।

वास्तविकरूप से सही बात तो यह है कि मेरा सर्व धार्मिक अध्ययन मुख्यरूप से धर्ममाता 'भून' के सान्निध्य में ही हुआ है। धार्मिक आचरण सम्बन्धी अनेक प्रकार के संस्कार भी उन्हीं से प्राप्त हुए हैं। उनके इस उपकार को मैं इस जन्म में कभी भूल ही नहीं सकता।

आध्यात्मिक सन्त श्री कानजीस्वामी के सान्निध्य में जाने का अवसर भी 'भून' के साथ ही मुझे प्राप्त हुआ। पूज्य श्री समन्तभद्र महाराज भी श्री कानजीस्वामी के पास जाने के लिए अनुकूल थे, बल्कि वे सोनगढ़ जाने के लिए हमें सदैव प्रेरित करते थे। विशेष बात यह है कि उन दिनों में स्वामीजी का आज जैसा विशेष प्रचार नहीं था।

विद्वद्गुरु श्री बाबूभाई मेहता (बड़े बाबूभाई) फतेपुर, श्री खेमचन्दभाई राजकोट, श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा आदि विद्वानों के कारण हिन्दी प्रान्त में श्री स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित तत्त्व का विशेष प्रचार हुआ। फलस्वरूप जयपुर में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के निर्देशन में श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय का प्रारम्भ हुआ। इस महाविद्यालय के कारण आज सैकड़ों विद्वान तैयार हो गये हैं। इन सब कारणों से आचार्य-परम्परा से प्राप्त जैनतत्त्व का प्रचार-प्रसार, वर्तमानकाल में विशेषरूप से हो रहा है। भविष्य में भी यह प्रचार-परम्परा, धारावाहिकरूप से बनी रहेगी - ऐसा माहौल भी तैयार हो गया है। अस्तु।

हमारे गुरुजी द्वारा ग्रन्थकार पण्डित श्री आशाधरजी का परिचय देते हुए हमें यह समझाया गया था कि उन्होंने अनगारधर्माभूत भी लिखा है, जिसमें मुनि-जीवन के उत्कृष्ट स्वरूप का वर्णन किया गया है।

तब मेरे मन में यह शंका उत्पन्न हुई थी कि स्वयं श्रावक होते हुए मुनिराज के जीवन-विषयक ग्रन्थ लिखने का अधिकार पण्डितजी को है क्या? उसी समय मैंने उनसे कक्षा में शंका भी पूछी थी। यद्यपि समाधानस्वरूप कुछ बताया तो गया, तथापि मुझे समाधान नहीं हुआ।

“स्वयं गृहस्थ होकर कोई व्यक्ति, मुनिराज के जीवन-विषयक कैसे लिख सकता है?” - इस विषय को लेकर अनेकानेक प्रश्न मेरे मन में उत्पन्न होते रहे और इस विषय को लेकर मन में अनेक वर्षों तक एक प्रकार की बैचेनी भी होती रही। यद्यपि यह बैचेनी, विचारमूलक होने से मानसिक परेशानी करनेवाली भी रही; तथापि मैं इस विषय का समाधान ढूँढने में सतत् लगा रहा।

इस प्रश्न के समाधान में मुझे यह भी समझाया गया कि “यद्यपि उनके जीवन में व्रतादिरूप बाह्य चारित्र नहीं आया था; तथापि यथार्थ श्रद्धान तो हुआ था, ज्ञान भी हुआ था; अतः तदनुसार पण्डितजी ने ग्रन्थ में समझाया है, इसमें गलत क्या है?”

फिर भी मुझे लगातार ऐसा विचार आता था कि “यदि उन्हें धर्म समझ में आया है तो तदनुसार उनको अपने जीवन को भी बनाना ही चाहिए। यदि मनुष्य जीवन में कोई अपना नहीं है - यह बात सुनिश्चित हो गई है तो फिर हमें घर में रहना ही नहीं चाहिए। हम घर में क्यों रहें? हमारे लिए दिगम्बर मुनि-जीवन का स्वीकार करना ही समझदारी का काम है।

हाँ, मुझे जिस दिन वास्तविक रूप से धर्म समझ में आ जाएगा तो मैं उसी दिन नहीं, उसी क्षण घर-बार छोड़ दूँगा .... इतना ही नहीं, वस्त्रादि का भी परित्याग करके, साक्षात् दिगम्बर मुनि बन जाऊँगा तथा बन सकेगा तो आहार-जल भी ग्रहण नहीं करूँगा और अल्पकाल में अरहन्त सिद्ध भगवान बन जाऊँगा।”

- ऐसे विचार अनेक वर्षों तक मेरे मन में आते रहे।

“सम्यग्दृष्टि जीव, घर में रहते हैं, शादी करते हैं, अपनी सन्तान की व्यवस्था भी जमाने का प्रयास करते हैं। प्रसंग बने तो आपस में लड़ाई भी करते हैं, कदाचित् युद्ध के मैदान में शस्त्र लेकर, शत्रु को जी-जान से मारने का प्रयत्न भी करते हैं और मार भी डालते हैं।”

इस प्रकार के कथन तो मुझे असत्य जैसे नहीं, असत्य ही लगते थे। विशेषरूप से तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवों को अपने पूर्व गृहस्थ जीवन में शादी करते हुए या युद्ध करते हुए सुनकर, मुझे बहुत ही अटपटा लगता था।

अनेक तत्कालीन मुनिराजों एवं विद्वानों से भी मैं यह शंका पूछता था। वे सभी मुझे समझाते तो थे, लेकिन मुझे समझ में नहीं आता था।

कभी कभी अज्ञान के कारण मैं यहाँ तक सोचता था कि “यह सब चतुराई की बातें हैं। ऐसा समझानेवाले लोग हमें भ्रमित करते हैं; वे हमें तथा समाज को भी जान-बूझकर सत्य से दूर रखते हैं।”

इस विषय के सन्दर्भ में समयसार, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद भी मुझे अपनी अज्ञानता के कारण कुछ सन्तोषकारक समाधान नहीं हुआ था।

### प्रकृत विषय के सन्दर्भ में

मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ में ‘संवरतत्त्व का अन्यथारूप’ प्रकरण में पृष्ठ २२८ पर मिश्रभाव की चर्चा आती है। इस प्रकरण के माध्यम से मुझे अनेक प्रबुद्ध लोगों ने यद्यपि समझाने का प्रामाणिक प्रयास भी किया; तथापि मेरे समझ में नहीं आया तो नहीं आया।

अब यह विषय मुझे अत्यन्त स्पष्ट होता जा रहा है कि किसी को किसी के समझाने से कुछ समझ में नहीं आता। जब समझने का काल आता है, तब उस कार्य में भी कोई न कोई उचित निमित्त मिल ही जाता है। इस प्रकार जगत् में सर्व कार्य सहज ही होते रहते हैं।

१. एक दिन समयसार का अध्ययन करते समय मेरे समझने का काल अनुकूल आ जाने के कारण, अकस्मात् मुझे आचार्य श्री अमृतचन्द्र कृत कलश ११० के द्वारा यह विषय स्पष्ट हुआ। साथ ही पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित भावार्थ भी सूक्ष्मता से पढ़ा तो यह सम्पूर्ण विषय स्पष्ट समझ में आ गया।

२. इसी क्रम में मुझे पण्डित श्री दीपचन्दजी कासलीवाल द्वारा रचित आत्मावलोकन एवं अनुभव-प्रकाश के अन्तर्गत ‘मिश्रधर्म’ का प्रकरण पढ़ने का भी अवसर मिला।

३. विषय समझ में आने के बाद प्रवचनसार की ‘चरणानुयोगसूचक चूलिका’ में भी अनेक स्थानों पर मुझे यह विषय पढ़ने/समझने को मिला।

४. इस सन्दर्भ में सामान्यगुणों के अन्तर्गत द्रव्यत्वगुण तथा अगुरुलघुत्वगुण का सूक्ष्म चिन्तन-मनन भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

५. साथ ही द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ निर्णय करने से भी मुझे बहुत बल मिला।

६. इसी क्रम में श्रद्धागुण और चारित्रगुण के स्वतन्त्र परिणमन का यथार्थ स्वरूप भी स्पष्ट होता चला गया।

इसप्रकार यह ‘मिश्रधर्म’ (मिश्रभाव/मिश्रधारा) चतुर्थादि गुणस्थानों में भी स्पष्ट हुआ। इसी कारण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती चारों गति के अविरत सम्यक्त्वी जीव भी अपनी भूमिका के अनुसार मोक्षमार्गी (धार्मिक) हैं – यह विषय स्पष्ट हो गया; इसलिए इस विषय का मर्म, विशेष विस्तार के साथ इस कृति में स्पष्ट करने का मुझे भाव हुआ है।

‘मनुष्य जीवन के अन्तिम काल में अपना उपयोग निर्मल रहे’ – यह भावना, इन दिनों में अधिक बलवती रखने का बुद्धिपूर्वक प्रयास भी कर रहा हूँ। साथ ही मुझे जिस तरह अनावश्यक उलझन हुई, वैसी उलझन अन्य साधर्मियों को न हो – यह विचार भी इस प्रयास के पीछे अवश्य रहा है।

इस मिश्रभाव या मिश्रधर्म को मिश्रधारा, कर्मधारा-ज्ञानधारा, रागधारा-वीतरागधारा, शुद्धपरिणति-अशुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग-अशुद्धोपयोग, साधनाकाल का प्रारम्भ एवं उसका अनवरतपना, धर्मधारा, आनन्दधारा, आनन्द की अखण्डता, मोक्षमार्ग की अखण्डता, शुद्धता की धारा, मोक्षमार्ग में मिश्रधारा या शुद्धाशुद्धपरिणति, गुणस्थानों में शुद्धाशुद्धपरिणति आदि नामों से भी जान सकते हैं।

विषय प्रारम्भ करने से पहले मैं अपना एक विचार व्यक्त करना चाहता हूँ कि इस कृति में जो कुछ विषय लिखा गया है, वह अनन्त सर्वज्ञ भगवन्तों के अभिप्राय के अनुसार है। सर्वज्ञ भगवान ही जिनधर्म के मूल आधार हैं। हम यहाँ अनेक आचार्य परमेष्ठी तथा अनेक विद्वानों के ग्रन्थों के आधार भी प्रस्तुत करेंगे; लेकिन उन सब आचार्य एवं विद्वानों के ग्रन्थों का मूल आधार भी सर्वज्ञ भगवान ही हैं।

प्रस्तुत विषय का खुलासा करते समय आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के प्रवचनों का भी प्रचुर मात्रा में उपयोग करने का हमारा मानस रहा है और उनका हमने उपयोग किया भी है।

यह कृति प्रकाशित होने के पूर्व हमने अनेक विद्वानों को भेजी भी है तथा बाद में भी विशिष्ट विद्वानों/साधकों को बुद्धिपूर्वक भेजने का मानस है। विद्वान् लोग इस विषय में जिन कमियों को, आगम तथा युक्ति के आधार से मुझे अवगत कराएँगे; उनके बहुमानपूर्वक, अपना ज्ञान सम्यक् करते हुए, आगामी संस्करण में सुधारने का भी अवश्य प्रयत्न करेंगे। 'मुझे तो स्वाध्याय करना है, अपने ज्ञान/परिणामों को निर्मल बनाना है'; इस कार्य में यह कृति उपयोगी हो - ऐसी भावना है।

- ब्र. यशपाल जैन, जयपुर

## विषय-प्रवेश

(हरिगीत)

निज आत्मा की शुद्धता, परिपूर्णता है सिद्ध पद ।  
 वंदन उसी शुद्धात्म को, हो प्रकट जिससे मुक्ति पद ॥  
 मैं हूँ अनादिकाल से, निज आत्मा के भान बिन ।  
 भ्रमता रहा जगजाल में, बस दुःख पाया रात दिन ॥  
 जब आत्म का श्रद्धान हो, बस आत्मा का ध्यान हो ।  
 शुद्धोपयोगी होय तब, शुभ-अशुभ का अवसान हो ॥  
 उपयोग की जब शुद्धता, तत्काल परिणति शुद्ध हो ।  
 परिणति की शुद्धता, आधार शुद्ध उपयोग हो ॥  
 ध्रुव परिणति आधार से, नित निर्जरा होती रहे ।  
 जाये चला चाहे जहाँ, उपयोग भी भ्रमता रहे ॥  
 घर में रहे व्यापार में, या क्षेत्र हो फिर युद्ध का ।  
 ज्ञानी रहे निर्लिप्त उनसे, बल यही श्रद्धान का ॥  
 श्रद्धान के बल से सदा, ही परिणति निर्मल रहे ।  
 परिणति की शुद्धता से, ज्ञानीपन कायम रहे ॥  
 है भिन्न चेतन भिन्न जड़ कण, भिन्नता शाश्वत रहे ।  
 इस भाव भासन सहित, ज्ञानी सदा सुख पाते रहे ॥  
 होवे विहार आहार चाहे, शास्त्र भी लिखते रहे ।  
 समिति गुप्ति मूलगुण अरु, महाव्रत पलते रहें ॥  
 उपयोग बाहर किन्तु परिणति, स्वयं में रमती रहे ।  
 इस हेतु से ही ज्ञानीजन के, निर्जरा कायम रहे ॥  
 समझकर इस मर्म को, स्वच्छन्द हम होंगे नहीं ।  
 बस है यही नित भावना, अब भव भ्रमण होगा नहीं ॥

- डॉ. संजीवकुमार गोधा, जयपुर

## पहला अधिकार दुःख और उसके भेद

चतुर्गतिरूप इस संसार में अनन्त जीव हैं। वे सभी स्वभाव से भगवानस्वरूप ही हैं; फिर भी उन्होंने अपने को भगवानस्वरूप स्वीकार नहीं किया है; अपने को वर्तमान पर्यायरूप ही माना है। इस कारण संसारी जीव, पर्याय में मिथ्यात्वादि विकारों से सहित हैं - ऐसा सब आगमाभ्यासी जानते ही हैं।

जीव में अशुद्धि दो प्रकार की होती है - एक तो श्रद्धा-मूलक अशुद्धि, जिसे 'मिथ्यात्व' नाम से जाना जाता है। दूसरी चारित्र-सम्बन्धी अशुद्धि, जिसे राग-द्वेषरूप विभावभाव के नाम से जाना जाता है।

मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्याभाव; अतः श्रद्धा में मिथ्यापना, ज्ञान में मिथ्यापना और चारित्र में भी मिथ्यापना - ये सब श्रद्धामूलक अशुद्धियाँ हैं।

इसी प्रकार यह जीव, चारित्र-सम्बन्धी अशुद्धियाँ - मोह-राग-द्वेषरूप भावों के कारण भी अनादिकाल से दुःखी है।

जो जीव मिथ्यादृष्टि हैं, उनकी श्रद्धा तो विपरीत है ही, साथ ही उनका चारित्र भी नियम से विपरीत ही होता है; अतः मिथ्यादृष्टि जीव, दो प्रकार से दुःखी है - एक तो श्रद्धान विपरीत होने से, दूसरे चारित्र भी विपरीत होने से।

जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं, वे श्रद्धा अपेक्षा तो यथार्थ श्रद्धावन्त हो ही गये हैं, इसलिए उनको विपरीत श्रद्धानजन्य दुःख तो है ही नहीं; हाँ, शुद्धात्मा में रमणतारूप चारित्र पूर्ण न होने के कारण उन्हें आंशिक

दुःख होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि का दुःख सीमित है, मर्यादित है; जबकि मिथ्यादृष्टि का दुःख अनन्त है।

इसप्रकार सभी मिथ्यादृष्टि, नियम से अनन्त दुःखी ही हैं।

कदाचित् कुछ मिथ्यादृष्टि जीवों को साता आदि पूर्व पुण्यकर्म के उदय से बाह्य भोगोपभोग के साधन प्राप्त हो जाते हैं तो भी मिथ्यात्व-जन्य दुःख की अनन्तता में कुछ भी कमी नहीं आती।

इस विश्व में दो प्रकार के जीव हैं - संसारी और मुक्त।

जो जीव, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से सहित हैं, मिथ्यात्व एवं रागादि विकारी परिणामों से युक्त हैं, दुःखी हैं एवं शरीरधारी हैं; उन्हें संसारी कहते हैं तथा चार अघातिकर्म एवं शरीर सहित अरहन्तों को भी ईषत् संसारी कहते हैं। उनमें अभव्य या तीव्र मिथ्यादृष्टियों को 'दीर्घसंसारी' तथा जो जीव, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से विरहित हैं, मिथ्यात्वादि सब प्रकार के विकारों से भी रहित हैं, अनन्त-अव्याबाध सुखी तथा अशरीरी हैं; उन्हें मुक्त कहते हैं।

संसारी जीव, मोह परिणाम से दुःखी है - इस सम्बन्ध में पण्डित प्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र के तीसरे अध्याय में निमित्त की मुख्यता से दुःख का मूल कारण मोहनीयकर्म को बताया है तथा भेद अपेक्षा से दर्शनमोहनीयजन्य दुःख और चारित्रमोहनीयजन्य दुःख - ऐसे दो भेद करके दुःख के सम्बन्ध में खुलासा भी किया है। उन्होंने दुःख<sup>१</sup> की अवस्था का विस्तृत वर्णन भी किया है -

“संसारी (जीव), संसार में दुःखी हो रहा है, परन्तु उसका मूल कारण नहीं जानता तथा सच्चे उपाय नहीं जानता और दुःख सहा भी नहीं जाता; तब अपने को भासित हो, वही उपाय करता है; इसलिए दुःख दूर नहीं होता, तब तड़प-तड़पकर परवश हुआ, उन दुःखों को

सहता है। .... उसे यहाँ दुःख का मूल कारण बतलाते हैं, दुःख का स्वरूप बतलाते हैं तथा उन उपायों को झूठे बतलायें तो सच्चे उपाय करने की रुचि हो; इसलिए यह वर्णन यहाँ करते हैं।”

यद्यपि वहाँ प्रत्येक कर्म के निमित्त से होनेवाले दुःखों का वर्णन किया है; तथापि हम यहाँ उस पूर्ण विषय को गौण करते हुए मात्र मोहनीयकर्म के निमित्त से होनेवाले दुःख का वर्णन लिखते हैं -

“प्रथम तो दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है; उसके द्वारा जैसा इसके श्रद्धान है, वैसा तो पदार्थ होता नहीं है; जैसा पदार्थ है, वैसा यह मानता नहीं है; इसलिए इसको आकुलता ही बनी रहती है। ....

जैसे, इस जीव को कर्मोदय ने शरीर-सम्बन्ध कराया। यह जीव, उस शरीर को अपना अंग जानकर, अपने को और शरीर को एक मानता है। वह शरीर, कर्म के आधीन होने से कभी कृष होता है, कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है, कभी नवीन उत्पन्न होता है; इत्यादि चरित्र होते हैं। लेकिन यह जीव, उसे अपने आधीन मानता है, उसकी पराधीन क्रिया होती है, उससे महा खेद-खिन्न होता है। ...

जैसे, यह जीव, जहाँ पर्याय धारण करता है, वहाँ स्वयमेव पुत्र, घोड़ा, धनादिक कहीं से आकर प्राप्त हुए; उन्हें यह जीव, अपना जानता है; वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; लेकिन यह जीव, उन्हें अपने आधीन मानता है और उनकी पराधीन क्रिया हो तब खेदखिन्न होता है।.....

जो विषयों की इच्छा होती है, कषाय होती है, बाह्य-सामग्री में इष्ट-अनिष्टपना मानता है, अन्यथा उपाय करता है, सच्चे उपाय का श्रद्धान नहीं करता, अन्यथा कल्पना करता है सो इन सबका मूल

कारण एक मिथ्यादर्शन ही है। उसका नाश होने पर सबका नाश हो जाता है, इसलिए सब दुःखों का मूल यह मिथ्यादर्शन है।<sup>१</sup>.....

इस संसारी को यह उपाय (भासित होता) है कि जैसा स्वयं को श्रद्धान है, उसी प्रकार पदार्थों को परिणमित करना चाहता है, लेकिन यदि वे उस प्रकार परिणमित हों तो इसका श्रद्धान सच्चा हो जाए, परन्तु अनादिनिधन वस्तुएँ, भिन्न-भिन्न अपनी अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं हैं, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती। उन्हें (अपने अनुसार) परिणमित कराना चाहे, वह कोई उपाय नहीं है, वह तो मिथ्यादर्शन ही है।

तो सच्चा उपाय क्या है? - जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा श्रद्धान हो जाए तो सर्व दुःख दूर हो जाएँ।... मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थों को अन्यथा माने, अन्यथा परिणमित करना चाहे तो आप ही दुःखी होता है। तथा उन्हें यथार्थ मानना तथा इसके परिणमित कराने से अन्यथा परिणमित नहीं होंगे - ऐसा मानना, सो ही उस दुःख दूर होने का उपाय है।

भ्रमजनित दुःख (दूर करने) का उपाय भ्रम दूर करना ही है, सो भ्रम दूर होने से सम्यक् श्रद्धान होता है, वही सत्य उपाय जानना।<sup>२</sup>

मोक्षमार्गप्रकाशक में ही आगे पण्डितजी स्वयं चारित्रमोहनीय के उदय से होनेवाले दुःख के प्रकरण में क्रोध कषाय आदि का वर्णन करते हैं। वहाँ प्रत्येक कषाय की पराकाष्ठा में उन्होंने अनन्त आकुलित होने की बात लिखी है तथा अन्त में वे लिखते हैं - ‘अपने ही अंगों का घात करता है तथा विषादि से मर जाता है।’ तदनन्तर हास्यादि नोकषाय के परिणामों का कथन करते समय भी महादुःखी होने, अपने अंगों का घात करने और मरने की बात लिखी है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ५०-५१

२. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५२

इसका अर्थ हमें ऐसा समझना चाहिए कि ये कषाय-नोकषायादि, मिथ्यादर्शन के साथ ही होनेवाले भाव हैं। जिसका मिथ्यात्व दूर हुआ है अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है - ऐसे मोक्षमार्गस्थ जीवों के तीव्र दुःखद परिणामों के कारण ऐसे कषाय-नोकषाय के भाव नहीं होते।

इसप्रकार जब जीव को मिथ्यात्व परिणाम होता है, तब चारित्र-सम्बन्धी मन्दकषायरूप परिणाम होते हुए भी मिथ्यात्व-सम्बन्धी अनन्तानुबन्धी कषाय आदि का अनन्त दुःख बना रहता है।

इससे सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व का अभाव हो जाने के बाद विद्यमान कषाय परिणामों से जीव को दुःख या आकुलता मर्यादित होती है, उस दुःख को अनन्त नहीं कहा जा सकता है; अतः मात्र चारित्र-सम्बन्धी अस्थिरताजन्य परिणाम रहें तो भी मोक्षमार्ग प्रगट रहता है और मोक्ष के कारणभूत संवर-निर्जरा भी होते रहते हैं। पश्चात् चारित्र-सम्बन्धी अस्थिरताजन्य परिणाम भी नष्ट हो जाने पर साक्षात् मोक्ष प्रगट होता है।

इसप्रकार चौथे गुणस्थानवर्ती जीव के युद्धादि करने के परिणाम होने पर भी उसका मोक्षमार्गपना नष्ट नहीं होता; अतः इस प्रकरण के अन्त में पण्डितजी स्वयं लिखते हैं कि 'सम्यग्दर्शनादिक ही दुःख मेटने का सच्चा उपाय है।'<sup>१</sup>

प्रथमानुयोग के पुराणों में तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मोक्षमार्गप्रकाशक, छहढाला आदि ग्रन्थों में जो चार गतियों के दुःख का वर्णन मिलता है; वहाँ भी मिथ्यात्व सहित होनेवाले दुःखों की ही मुख्यता है।

वास्तव में मिथ्यात्व निकल जाने के बाद जब यह जीव, मोक्षमार्गी होता है, तब वह वास्तव में दुःख का ज्ञाता रहता है।

प्रश्न - जो जीव चतुर्थ गुणस्थान से मोक्षमार्गी होने के कारण

सीमित संसारी हो गये हैं - ऐसे जीवों का स्वरूप स्पष्ट करे; उनके कुछ उदाहरण भी दीजिए।

उत्तर - इस प्रश्न से विषय को समझाने में सुलभता होगी; अतः निम्न उदाहरणों से अपनी बात स्पष्ट करते हैं -

१. क्षायिक सम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक, जो भविष्य में तीर्थकर होनेवाले हैं, उनको अपने पुत्र के माध्यम से ही प्रतिकूलता होने पर भी देह में एकत्वबुद्धि के अभाव के कारण मोक्षमार्ग प्रगट था; इतना ही नहीं उस समय भी उन्हें तीर्थकरप्रकृति नामक महान् पुण्य का बन्ध लगातार हो रहा था और अभी भी नरक में उन्हें तीर्थकरप्रकृति का सतत् बन्ध हो ही रहा है।

२. सम्यक्त्व के अमूढदृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी को बहुत प्रतिकूलता थी। ऐसे प्रसंग में रेवती रानी के सम्यग्दर्शन की परीक्षा के लिए अनेक मानवों और देवों ने भी प्रयास किये थे। ऐसे समय उन्हें कथंचित् दुःख तथा यथायोग्य आस्रव-बन्ध होते हुए भी सम्यग्दर्शन के कारण अल्प सुख (वीतरागभाव) प्रगट था, उनको संवर-निर्जरा भी हो रहे थे और अभी भी स्वर्ग में संवर-निर्जरा हो ही रहे हैं।

३. जब रावण ने सती सीता का हरण किया था, उस समय सम्यग्दृष्टि तद्भव मोक्षगामी राजा रामचन्द्रजी को उनकी भूमिका के अनुसार सीता के वियोग में दुःख भी हो रहा था और उनका मोक्षमार्ग प्रगट होने के कारण यथापदवी सम्यक्त्व के प्रभाव से उनको कथंचित् सुखी समझना भी जिनवाणी माता को स्वीकार ही है।

४. क्षायिक सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती भरत के जीवन का उदाहरण तो सभी को ज्ञात है ही। इसी कारण भरतजी को घर में वैरागी कहते हैं।

- ऐसे अनेक उदाहरण प्रथमानुयोग के शास्त्रों में हमें व आपको पढ़ने-सुनने को मिलते ही हैं।

यदि गृहस्थ जीवन में मनुष्य को धार्मिक, मोक्षमार्गी एवं कथंचित् सुखी नहीं माना जाए तो भविष्य में तीर्थकर होनेवाले महापुरुषों को भी घर में रहते हुए संसारमार्गी, सर्वथा दुःखी और अधार्मिक मानना अनिवार्य हो जाएगा।

शास्त्राधार से देखा जाए तो प्रत्येक स्वर्ग में और तीसरे नरक तक प्रत्येक नरक में असंख्यात-असंख्यात भावी तीर्थकर होते हैं। अभी भी नरक में रहनेवाले श्रेणिक राजा के जीव भविष्य कालीन 'महापद्म' नामक प्रथम तीर्थकर होंगे - यह विषय जैन-जगत् में प्रसिद्ध ही है।

तीर्थकर पार्श्वनाथ और तीर्थकर महावीर के जीवों ने भी पूर्वभवों में क्रमशः हाथी और शेर पर्याय में सम्यग्दर्शन (मोक्षमार्ग) प्रगट किया था। इस कारण सम्यग्दर्शन प्रगट होने से ही जीव को यथापदवी सुखी तथा मोक्षमार्गी स्वीकार करना, न्याय-संगत तथा शास्त्र-सम्मत भी है।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन होते ही जीव साधक हो जाता है, धार्मिक बन जाता है तथा मोक्षमार्गी एवं सीमित संसारी भी हो जाता है - यह विषय युक्ति तथा उदाहरण के साथ सिद्ध हो जाता है।

**यहाँ प्रश्न है कि सम्यग्दृष्टि जीव की दशा का चारित्रमोहनीयकर्म की अपेक्षा क्या स्वरूप है?**

उत्तर - सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्वकर्म का उदय नहीं रहता है - यह निश्चित है। साथ ही मिथ्यात्वकर्म की सहचारी - अनन्तानुबन्धी कषाय का भी उदयाभाव होता ही है।

सम्यग्दृष्टि जीव को मात्र अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव है तथा चारित्रमोहनीयकर्म की तीन कषाय-चौकड़ी अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण-सम्बन्धी चार कषायें, प्रत्याख्यानावरण-सम्बन्धी चार कषायें तथा नौ-नोकषाएँ एवं संज्वलन-सम्बन्धी चार कषायें शेष रहती हैं, उनके उदयानुसार राग-द्वेषरूप विकारी परिणाम भी होते हैं। इन परिणामों के

अनुसार उस जीव को अल्प दुःख भी होता है और तदनुसार चारित्रमोहनीय आदि नवीन कर्म का बन्ध भी होता रहता है।

**देखो! सम्यग्दृष्टि जीव को भूमिका के अनुसार कर्म का उदय, उदयानुसार राग-द्वेषरूप परिणाम तथा परिणाम के अनुसार नवीन कर्म का बन्ध भी होता ही रहता है तो भी वह जीव धार्मिक है, भूमिका के अनुसार सुखी है, मोक्षमार्गी तो है ही।**

इसी विषय को आध्यात्मिक कविवर पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की तीसरी ढाल के १५वें छन्द में अत्यन्त मधुर एवं स्पष्ट शब्दों में उदाहरण के साथ प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है -

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दर्श सजै हैं।  
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं॥  
गेही पै गृह में न रचैं ज्यों, जल तैं भिन्न कमल है।  
नगर-नारि कौ प्यार यथा, कादे में हेम अमल है॥

अर्थात् जो बुद्धिमान पुरुष सम्यक्त्व के पच्चीस दोष रहित तथा निःशंकितादि आठ गुणों सहित सम्यग्दर्शन से भूषित हैं; उन्हें यद्यपि अप्रत्याख्यानावरणाय चारित्रमोहनीयकर्म के उदयवश किंचित् भी संयम नहीं है; तथापि देवों के स्वामी इन्द्र उनकी महिमा करते हैं। यद्यपि वे गृहस्थ हैं, तथापि घर में नहीं रमते। जिसप्रकार कमल जल से भिन्न रहता है; सुवर्ण कीचड़ में शुद्ध रहता है; वेश्या व्यक्ति से अलिप्त रहती है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि घर में रहते हुए भी अलिप्त रहते हैं।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि को जो सुख है, वह मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय-चौकड़ी के अभाव तथा सम्यक्त्व एवं स्वरूपाचरणचारित्र या निश्चय सम्यक्त्वाचरणचारित्र के सद्भाव के कारण है; उसे आंशिक वीतरागता प्रगट हुई है; वह वीतरागता तो स्वभावरूप है, सुखरूप है,



धर्मरूप भी है; तथापि उसी समय उसे जितने अंश में राग-द्वेषरूप विकारी परिणाम होते हैं; वे दुःखरूप हैं, दुःख के कारण हैं और नवीन कर्मबन्ध में निमित्त भी हैं।

तात्पर्य यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टि भी वीतराग व सराग दोनों भाव से सहित है। इस प्रकार चौथे गुणस्थान से ही 'मिश्रधर्म (मिश्रभाव/मिश्रधारा) का प्रारम्भ होता है अर्थात् उसे शुभ-अशुभोपयोग अथवा शुभाशुभभाव परिणति के साथ कभी-कभी शुद्धोपयोग (आत्मानुभूति) और धारावाहिकरूप से शुद्धपरिणति विद्यमान रहते हैं।

प्रश्न - आप चौथे गुणस्थान का नाम 'अविरत' मान्य करते हुए भी वहाँ 'स्वरूपाचरणचारित्र' का स्वीकार कैसे कर रहे हो? - यह बात हमें समझ में नहीं आ रही है, स्पष्ट करें।

उत्तर - आपका अभिप्राय हमारी समझ में आ गया है। एक तरफ उसे अविरत कहना, साथ में चारित्र की भी बात करना, परस्पर-विरोधी प्रतीत हो रहे हैं - यह भी हमें समझ में आ गया है।

देखो! चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में व्रतरूप संयमाचरण-चारित्र का स्वीकार करना हमें भी इष्ट नहीं है, अभिप्रेत नहीं है। जो जहाँ नहीं है, उसे हम स्वयं स्वीकार करना नहीं चाहते और न ही आपसे येन केन प्रकारेण स्वीकार कराना चाहते हैं।

चौथे गुणस्थानवाला व्रती नहीं है अर्थात् वह पाँचों पापों से किंचित् भी प्रतिज्ञारूप विरत नहीं है - यह उसके नाम से ही स्पष्ट है; इसलिए उसकी अविरति संज्ञा तो हमें भी शत-प्रतिशत मान्य है।

यहाँ हम सम्यग्दर्शन के साथ चारित्रमोहनीयकर्म के अनन्तानुबन्धी कषाय-चौकड़ी के अभाव की अपेक्षा प्रगट होनेवाले सम्यक्त्वाचरणचारित्र को आपके सामने रखना चाहते हैं; आप भी थोड़ा विचार करें।

जहाँ मिथ्यात्व एवं उसके अविनाभावी अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव है, वहाँ किंचित् भी किसी अपेक्षा चारित्र नहीं है - यह मानना या कहना भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इस विशिष्ट सन्दर्भ में निम्न बिन्दुओं पर आपका (पाठकों का) ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ -

१. मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव के कारण ४१ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध<sup>१</sup> नियम से रुक जाता है; अतः वहाँ चारित्र या शुद्धभावपरिणति, किसी भी अपेक्षा से नहीं स्वीकारना कैसे उचित मानें? इसलिए चौथे गुणस्थान में सर्वथा चारित्र नहीं मानना - यह भी हठ ही माना जाएगा। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारी दृष्टि में बाह्यक्रियारूप स्थूल व्रतादि तो चारित्र के रूप में मान्य हैं, परन्तु कषाय के अभावरूप वीतरागता, वह चारित्र के रूप में मान्य नहीं है।

चौथे गुणस्थान में प्रगट होनेवाले सम्यक्त्वाचरणचारित्र के दो स्वरूप हम आपके सामने रखना चाहते हैं - १. निश्चय सम्यक्त्वाचरण-चारित्र और २. व्यवहार सम्यक्त्वाचरणचारित्र।

निश्चय सम्यक्त्वाचरणचारित्र के अन्तर्गत मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से प्रगट होनेवाली वीतरागता का समावेश होता है, इसे ही हम सामान्यतया स्वरूपाचरणचारित्र के रूप में जानते हैं। इसी स्वरूपाचरण चारित्र में आंशिक वृद्धि का क्रम, गुणस्थान-परिपाटी में आगे-आगे बढ़ता जाता है। यह स्वरूपाचरण-चारित्र, पंचम गुणस्थान में दो कषाय चौकड़ी के अभावरूप, छठवें-सातवें गुणस्थान में तीन कषाय-चौकड़ी के अभावस्वरूप तथा आगे के गुणस्थानों में यथायोग्य बढ़ता हुआ यथाख्यातचारित्र में समाविष्ट हो जाता है।

व्यवहार सम्यक्त्वाचरणचारित्र, चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होनेवाले प्रवृत्तिस्वरूप चारित्र को कहते हैं, जो आठ निःशंकितादि अंगों के

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७, पृष्ठ २६७, टिप्पणी

पालनरूप में विद्यमान होता है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य स्वरूप भी वह माना गया है। इसी प्रकार वह आठ मद, आठ शंकादि दोष, तीन मूढ़ता एवं छह अनायतनों के त्याग से प्रगट होता है।

खेद तो इस बात का है कि उस व्यवहार सम्यक्त्वाचरणचारित्र को चतुर्थ गुणस्थान में पायी जानेवाली 'अविरति' को आधार बनाकर 'चारित्र' मानने से ही इंकार किया जाता है, जो किसी भी प्रकार से आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय में आगमानुकूल नहीं माना जा सकता है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि भले ही व्रतरूप व्यवहार-संयमाचरणचारित्र का प्रारम्भ पंचम गुणस्थान से हो, लेकिन निश्चय-व्यवहाररूप सम्यक्त्वाचरणचारित्र का प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान से ही मानना योग्य है; इसमें निश्चय सम्यक्त्वाचरणचारित्र तो सिद्धदशा पर्यन्त कायम रहता है तथा व्यवहार सम्यक्त्वाचरणचारित्र, बुद्धिपूर्वक छठवें गुणस्थान पर्यन्त एवं अबुद्धिपूर्वक दशवें गुणस्थान तक यथायोग्य विद्यमान रहता है।

२. इस युक्ति के समर्थन में हम आगे आपको आगम-प्रमाण के रूप में आचार्य कुन्दकुन्द के वचनों को प्रस्तुत करना चाहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड़ शास्त्र के चारित्रपाहुड़ में चारित्र अर्थात् सम्यक्चारित्र के दो भेद बताये हैं - १. सम्यक्त्वाचरणचारित्र और २. संयमाचरणचारित्र।

तात्पर्य यह है कि चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होनेवाला चारित्र, सम्यक्त्वाचरणचारित्र के नाम से जाना जाता है, जबकि पाँचवें गुणस्थान या इसके ऊपर के गुणस्थानों में होनेवाला चारित्र, संयमाचरणचारित्र कहलाता है।<sup>१</sup>

१. चारित्रपाहुड़, गाथा ४-५

प्रसंग-प्राप्त यहाँ चारित्रपाहुड़ की कुछ मूल गाथाएँ, उनके डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत पद्यानुवाद, गाथार्थ एवं पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा का भावार्थ भी दे रहे हैं -

३. आगे दो प्रकार का चारित्र कहा सो कहते हैं -

जिणणाणदिट्टिसुद्धं, पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।  
बिदियं संजमचरणं, जिणणाणसदेसियं तं पि ॥<sup>१</sup>

है प्रथम सम्यक्त्वाचरण, जिन-ज्ञान-दर्शन शुद्ध है।  
है दूसरा संयमाचरण, जिनवरकथित परिशुद्ध है ॥

प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरणस्वरूप चारित्र है, वह जिनदेव के ज्ञान-दर्शन-श्रद्धान से किया हुआ शुद्ध है। दूसरा संयम का आचरण-स्वरूप चारित्र है, वह भी जिनदेव के ज्ञान में शुद्ध दिखाया हुआ है।

चारित्र दो प्रकार का कहा है - प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण कहा; जो सर्वज्ञ के आगम में तत्त्वार्थ का स्वरूप कहा, उसको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना और उसके शंकादि अतिचार-मल-दोष कहे, उनका परिहार करके शुद्ध करना तथा उसके निःशंकितादि गुणों का प्रगट होना, वह सम्यक्त्वाचरणचारित्र है।

जो महाव्रत आदि अंगीकार करके सर्वज्ञ के आगम में कहा, वैसे संयम का आचरण करना और उसके अतिचार आदि दोषों को दूर करना संयमाचरण-चारित्र है। इसप्रकार संक्षेप से उनका स्वरूप कहा।

४. आगे कहते हैं कि इसप्रकार पहला सम्यक्त्वाचरणचारित्र होता है -

तं चेव गुणविसुद्धं, जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाए ।  
जं चरइ णाणजुत्तं, पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥<sup>२</sup>  
इन आठ गुण से शुद्ध, सम्यक्मूलतः शिवथान है।  
सद्ज्ञानयुत आचरण, यह सम्यक्चरण चारित्र है ॥

१. चारित्रपाहुड़, गाथा ५

२. वही, गाथा ८

वह जिन-सम्यक्त्व अर्थात् अरहन्त भगवन्त जिनदेव की श्रद्धा, निःशंकित आदि गुणों से विशुद्ध होना, उसका यथार्थ ज्ञान के साथ आचरण करना, वह प्रथम सम्यक्त्वाचरणचारित्र है; वह मोक्षस्थान के लिए होता है।

जो सर्वज्ञभाषित तत्त्वार्थ की श्रद्धा, निःशंकित आदि गुण सहित, पच्चीस मल-दोष रहित, ज्ञानवान् आचरण करता है; उसे सम्यक्त्वाचरणचारित्र कहते हैं। वह मोक्ष की प्राप्ति के लिए होता है, क्योंकि मोक्षमार्ग में पहले सम्यग्दर्शन कहा है, इसलिए मोक्षमार्ग में प्रधान यह ही है।

५. आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार सम्यक्त्वाचरणचारित्र को अंगीकार करके संयम-चरणचारित्र को अंगीकार करता है तो वह शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता है -

सम्मत्तचरणसुद्धा, संजमचरणस्स जइ य सुपसिद्धा ।  
णाणी अमूढदिट्ठी, अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥<sup>१</sup>

सम्यक्चरण से शुद्ध अर, संयमचरण से शुद्ध हों।  
वे समकित्ती सदज्ञानिजन, निर्वाण पावें शीघ्र ही ॥

जो ज्ञानी होते हुए अमूढदृष्टि होकर सम्यक्त्वाचरणचारित्र से शुद्ध होता है और (उसके बाद) जो संयमा-चरणचारित्र से सम्यक् प्रकार शुद्ध हो तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

यदि पदार्थों का यथार्थज्ञान करके, मूढदृष्टि रहित विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होकर, सम्यक्चारित्रस्वरूप संयम का आचरण करता है तो शीघ्र ही मोक्ष को पाता है, संयम अंगीकार करने पर स्वरूप के साधनरूप एकाग्र धर्मध्यान के बल से सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानरूप होकर श्रेणी चढ़कर, अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान उत्पन्न कर, अघातिकर्म का नाश करके मोक्ष प्राप्त करता है, यह सम्यक्त्वाचरणचारित्र का ही माहात्म्य है।

६. आगे कहते हैं कि जो सम्यक्त्व के आचरण से भ्रष्ट हैं और यदि वे संयम का आचरण करते हैं तो भी मोक्ष नहीं पाते हैं -

सम्मत्तचरणभट्टा, संजमचरणं चरंति जे वि णरा ।  
अण्णाणणाणमूढा, तह वि ण पावंति णिव्वाणं ॥<sup>१</sup>

सम्यक्चरण से भ्रष्ट पर, संयमचरण आचरें जो।  
अज्ञानमोहित मती वे, निर्वाण को पाते नहीं ॥

जो पुरुष सम्यक्त्वाचरणचारित्र से भ्रष्ट हैं और संयम का आचरण करते हैं तो भी वे अज्ञान से मूढदृष्टि होते हुए निर्वाण को नहीं पाते हैं।

सम्यक्त्वाचरणचारित्र के बिना संयमाचरणचारित्र निर्वाण का कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान के बिना तो चारित्र मिथ्या कहलाता है और सम्यक्त्वाचरण के बिना ज्ञान भी मिथ्या कहलाता है; अतः सम्यक्त्व के बिना चारित्र के भी मिथ्यापना आता है।

७. इसके बाद चारित्रपाहुड में ही गाथा 11 से 14 तक इस सम्यक्त्वाचरणचारित्र के बाह्य चिह्नों का वर्णन करते हुए स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने वात्सल्य, विनय, अनुकम्पा, सुदान, मोक्षमार्ग की प्रशंसा, उपगूहन, जीवरक्षा, उत्साह, भावना, उपासना, स्तुति, सेवा, सुदर्शन में श्रद्धा आदि गुणों को सम्यक्त्वाचरणचारित्र के बाह्य चिह्न माना है।

आगे इस सम्यक्त्वाचरण चारित्र के कथन का संकोच करते हैं -  
संखिज्जमसंखिज्जगुणं, च संसारिमेरुमत्ता णं ।  
सम्मत्तमणुचरंता, करंति दुक्खक्खयं धीरा ॥<sup>२</sup>

सम्यक्त्व के अनुचरण से, दुख क्षय करें सब धीरजन।  
अर करें वे जिय संख्य और, असंख्य गुणमय निर्जरा ॥

सम्यक्त्व का आचरण करते हुए धीर पुरुष संख्यातगुणी तथा असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा करते हैं और कर्मों के उदय से हुए

संसार के दुःख का नाश करते हैं। कर्म कैसे हैं? संसारी जीवों के मेरु अर्थात् मर्यादा मात्र (मर्यादित) हैं और सिद्ध होने के बाद कर्म नहीं हैं।

इस सम्यक्त्व का आचरण होने पर प्रथम काल में तो गुणश्रेणी निर्जरा होती है, वह असंख्यात के गुणाकाररूप है। बाद में जबतक संयम का आचरण नहीं होता है, तबतक गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती है, वहाँ संख्यात के गुणाकाररूप होती है; इसलिए संख्यातगुणा और असंख्यातगुणा, इसप्रकार दोनों वचन कहे। कर्म तो संसार अवस्था है; वह जबतक है, उसमें दुःख का कारण मोहकर्म है, उसमें मिथ्यात्वकर्म प्रधान है।

सम्यक्त्व के होने पर मिथ्यात्व का तो अभाव ही हुआ और चारित्रमोह दुःख का कारण है; सो यह भी जबतक है, तबतक उसकी निर्जरा करता है, इसप्रकार अनुक्रम से दुःख का क्षय होता है। (पूर्ण यथाख्यात) संयमाचरण के होने पर सब दुःखों का क्षय होवेगा ही।

सम्यक्त्व का माहात्म्य इसप्रकार है कि सम्यक्त्वाचरण होने पर संयमाचरण भी शीघ्र ही होता है, इसलिए सम्यक्त्व को मोक्षमार्ग में प्रधान जानकर ही इसका वर्णन पहले किया है।<sup>१</sup>

९. धवला, पुस्तक एक, पृष्ठ 165 पर स्वरूपाचरणचारित्र शब्द का उल्लेख किया गया है।

१०. निश्चयचारित्र तो बाह्य समस्त प्रवृत्तियों से छूटकर, परम वीतरागता के प्रभाव से परम साम्यभाव को प्राप्त होकर, अपने ज्ञायकभावरूप स्वभाव में चर्या करना है, उसी का नाम स्वरूपाचरण-चारित्र है।<sup>१</sup>

११. समयसार की आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव विरचित आत्मख्याति टीका के कलश १०६ की भाषाटीका लिखते हुए पाण्डे श्री राजमलजी लिखते हैं -

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा ४९, भावार्थ

स्वरूपाचरणचारित्र कैसा है? - जिसप्रकार सुवर्णपत्र पकाने से सुवर्ण की कालिमा जाती है, सुवर्ण शुद्ध होता है; उसी प्रकार जीवद्रव्य के अनादि से अशुद्धचेतनारूप रागादि परिणमन था, जब वह जाता है और शुद्धस्वरूप मात्र शुद्धचेतनारूप जीवद्रव्य परिणमता है, उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र है - ऐसा मोक्षमार्ग है।<sup>१</sup>

१२. जिन सर्वज्ञ के ज्ञान में शुद्ध वीतरागतारूप सम्यक्त्वाचरण-चारित्र अथवा स्वरूपाचरणचारित्र और संयमाचरणचारित्र - दोनों प्रतिबिम्बित हुए हैं तथा स्वरूपाचरणचारित्र (निश्चयसम्यक्त्वाचरण चारित्र) की घातक अनन्तानुबन्धी कषाय है और संयमाचरणचारित्र की घातक अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यानादि कषायें हैं।<sup>२</sup>

१३. सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं - १. स्वरूपाचरणचारित्र एवं २. संयमाचरणचारित्र। संयमाचरणचारित्र के दो भेद हैं - एकदेशचारित्र और सर्वदेशचारित्र। इनमें से जघन्य स्वरूपाचरणचारित्र, चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता है। ..... जितना जितना कषायों का अभाव होता जाता है, उतना उतना ही उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण का विकास होता जाता है। दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय-चौकड़ी का अभाव होने पर उतने अंश में जघन्य स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है।<sup>३</sup>

१४. सम्यग्दर्शन का अविनाभावी होने से स्वरूपाचरणचारित्र को ही सम्यक्त्वाचरणचारित्र नाम दिया गया है। इस सम्बन्ध में पंचाध्यायीकार लिखते हैं - 'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान - ये दोनों चारित्र में गर्भित होते हैं क्योंकि तीनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होने से ये तीनों अखण्डित होते हैं।<sup>४</sup>

१. पाण्डे श्री राजमलजी विरचित समयसार कलश टीका, श्लोक १०६

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१२ से २१४, भावार्थ; टीकाकार - पण्डित मुन्नालालजी राधेलीय वर्णा, शास्त्री, न्यायतीर्थ; प्रकाशक - स्वाधीन ग्रन्थमाला, सागर

३. आचार्य अमृतचन्द्रकृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की पण्डित टोडरमलजी कृत भाषा टीका के आधार पर क्षुल्लक धर्मानन्दजी कृत हिन्दी टीका, श्लोक २१२ से २१४; प्रकाशक - श्री सुरेश सी. जैन, हौजखास, नई दिल्ली - ११००१६

४. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ७६५

१५. गुरुवर्य श्री गोपालदासजी बरैया ने जैन सिद्धान्त प्रवेशिका के प्रश्न क्रमांक ११२-११३ के उत्तर में चारित्र के चार भेदों में प्रथम भेद का नाम स्वरूपाचरणचारित्र कहा है, जो चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता है।

१६. 'सर्व गुणांश ते समकित' - इस जनसामान्य-सम्मत आगम-वचन से भी सामान्य स्वरूपाचरणचारित्र की सिद्धि होती है।

१७. एक सामान्य युक्ति भी आपके सामने हम रखना चाहते हैं। जैसे, चौथे गुणस्थान में भी 'अविरत' शब्द है और मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र गुणस्थान में भी 'अविरत' शब्द है। क्या चारों स्थानों के 'अविरत' शब्द का भाव एक ही लिया जा सकता है? - नहीं। इससे भी सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थान में चारित्र की कथंचित् विद्यमानता अवश्य स्वीकार करने योग्य है।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं शास्त्र-सम्मत बात यह है कि इस चतुर्थ गुणस्थान के इस व्यवहार सम्यक्त्वाचरणचारित्र (शुभभावरूप चारित्र) के बल पर, कदाचित् किसी जीव को तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध भी होने लगता है और वह आठवें गुणस्थान के छठवें भाग तक निरन्तर बँधता रहता है - ऐसा शास्त्र का स्पष्ट कथन है। यदि कदाचित् वह जीव नरक में भी चला जाता है तो भी उसे वह तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध, वहाँ भी होता रहता है। वहाँ सम्यक्त्व के साथ रहनेवाला उस जीव का वह विशेष सम्यक्त्वाचरणचारित्र ही उसका एकमात्र हेतु माना जा सकता है। यदि हम कहें कि वहाँ तो चारित्र है ही नहीं, क्योंकि अविरति है तो क्या वहाँ उस अविरति से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो रहा है?

नहीं, नहीं; अविरति, तीर्थंकर प्रकृति की बन्धक नहीं मानी जा सकती है, उस जीव के सम्यक्त्व के साथ रहनेवाला सोलह कारण भावनात्मक व्यवहारसम्यक्त्वाचरणचारित्र ही उसका बन्धक है।

आशा है, पाठक इस विषय से अवश्य सहमत होंगे तथा अपने जीवन में इस निश्चय-व्यवहार से सुसंगत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से अवश्य सुशोभित होंगे - ऐसी भावना है। ●

## दूसरा अधिकार मिश्रधारा

प्रश्न - आपने प्रथम अधिकार के १८वें पृष्ठ पर 'मिश्रधर्म' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द हमारे लिये नया है। इसका कथन आप अपनी ओर से कर रहे हो अथवा अन्य किसी ने 'मिश्रधर्म' शब्द का उल्लेख भी किया है क्या? स्पष्ट करें।

उत्तर - पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र के सातवें अध्याय के 'संवरतत्त्व के अन्यथारूप' प्रकरण में इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में कहा है - 'वह भाव मिश्ररूप है। कुछ वीतराग हुआ है, कुछ सराग रहा है। जो अंश वीतराग हुए, उनसे संवर हैं और जो अंश सराग रहे, उनसे बन्ध है'?

प्रश्न - श्री टोडरमलजी को छोड़कर और किसी ग्रन्थकार ने अपने किसी ग्रन्थ में मिश्रधर्म का प्रकरण प्रस्तुत किया है क्या?

उत्तर - हाँ, किया है। पण्डित श्री दीपचन्दजी कासलीवाल ने 'अनुभवप्रकाश' नामक शास्त्र में मिश्रभाव/मिश्रधारा के अर्थ में मिश्रधर्म अधिकार नाम का एक छोटा-सा अधिकार ही लिख दिया है। उस अधिकार को हम यहाँ समग्ररूप से आधुनिक भाषा में प्रस्तुत कर रहे हैं -

“अब यहाँ, मिश्रधर्म अधिकार प्रारम्भ करते हैं -

वह मिश्रधर्म, अन्तरात्मा को है।

शंका - ऐसा काहे से?

समाधान - क्योंकि स्वरूपश्रद्धान सम्यक् है और जितना कषाय-अंश है, उतनी राग-द्वेष धारा है।

आत्मश्रद्धाभाव में आनन्द होता है। कषायभाव सर्वथा नहीं गए, मुख्य श्रद्धाभाव है और गौण परभाव है; एक अखण्ड चेतनाभाव सर्वथा नहीं हुआ है, इसलिए मिश्रभाव है।

बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव - एकदेश ज्ञानचेतना है और कर्मचेतना भी है; इसलिए मिश्रधारा है।

उपयोग में स्वरूप की प्रतीति हुई; किन्तु शुभाशुभकर्म की धारा बहती है, उससे रंजकभाव कर्मधारा में है; परन्तु स्वरूपश्रद्धान मोक्ष का कारण है, भवबाधा मिटाने में समर्थ है।

कर्मधारा की ऐसी कोई दुर्निवार गाँठ है कि यद्यपि प्रतीति में स्वरूप का यथार्थ निर्णय किया है; तथापि सर्वथा (स्वरूप) न्यारा नहीं हुआ है, मिश्ररूप है।

शंका - यहाँ कोई प्रश्न करें कि सम्यक्गुण, क्षायिकसम्यग्दृष्टि को सर्वथा हुआ है या नहीं हुआ? उसका समाधान कहो।

समाधान - यदि ऐसा कहोगे कि सर्वथा हुआ है तो (उसे) सिद्ध कहो।

शंका - काहे से?

समाधान - क्योंकि - एक गुण सर्वथा विमल होने से सर्व (गुण) शुद्ध होते हैं। सम्यक्गुण सर्व गुणों में फैला है; (इससे) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन आदि सर्वगुण सम्यक् हुए। (परन्तु) सर्वथा सम्यग्ज्ञान नहीं है, एकदेश सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा सम्यग्ज्ञान हो तो सर्वथा सम्यक्गुण शुद्ध हो, इसलिए सर्वथा नहीं कहा जाता।

(तथा) यदि किंचित् सम्यक्गुण शुद्ध कहें तो सम्यक्त्वगुण का घातक जो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी कर्म था, वह तो नहीं रहा; जिस गुण का आवरण जाए, वह गुण (सर्वथा) शुद्ध होता है; इसलिए (सम्यक्गुण) किंचित् (शुद्ध) भी नहीं बनता।

शंका - तो किसप्रकार है?

उसका समाधान - वह आवरण तो गया; तथापि सर्वगुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए हैं। आवरण जाने से सर्वगुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए; इसलिए परम सम्यक् नहीं है। सर्वगुण साक्षात् सर्वथा शुद्ध सम्यक् हों, तब 'परम सम्यक्' ऐसा नाम होता है।

'विवक्षाप्रमाण से कथन प्रमाण है।' उस दर्शन प्रति की पौद्गलिक स्थिति जब नाश हुई, तभी इस जीव का जो सम्यक्त्वगुण मिथ्यात्वरूप परिणाम था, वह सम्यक्त्व गुण सम्पूर्ण स्वभावरूप होकर परिणामा-प्रकट हुआ। चेतन-अचेतन की भिन्न प्रतीति से वह सम्यक्त्वगुण निजजाति-स्वरूप होकर परिणामा है।

उसका लक्षण ज्ञानगुण अनन्तशक्ति द्वारा विकाररूप हो रहा था, उस गुण की अनन्तशक्ति में कुछ शक्ति प्रकट हुई। उसका सामान्यतः नाम मति-श्रुत हुआ कहते हैं अथवा निश्चय श्रुतज्ञानपर्याय कहते हैं, जघन्यज्ञान (अल्प प्रकट सम्यग्ज्ञान) कहते हैं।

ज्ञान की शेष सर्व शक्ति रही, वह अज्ञान-विकाररूप होती है; उस विकारशक्ति को कर्मधारारूप कहते हैं।

उसीप्रकार जीव की कुछ शक्ति चारित्ररूप और शेष कुछ विकाररूप है। इसीप्रकार भोगगुण का (समझना)। सर्वगुण जितने निरावरण, उतने शुद्ध; शेष विकार - यह सब मिश्रभाव हुआ। प्रतीतिरूप ज्ञान में सर्व शुद्ध श्रद्धाभाव ('द्रव्य सर्व शुद्ध है' - ऐसा श्रद्धाभाव) हुआ है; परन्तु ज्ञान को तथा अन्य गुणों को आवरण लगा है, इसलिए मिश्रभाव है; स्वसंवेदन है, परन्तु सर्व प्रत्यक्ष नहीं है।

सर्व कर्म-अंश जानेपर शुद्ध है, अघाति रहने पर (भी) शुद्ध है। घातिया के नाश से ही सकल परमात्मा है। प्रत्यक्ष ज्ञान तो हुआ है।

तथा सिद्ध सकल कर्मरहित निकल परमात्मा हैं। अन्तरात्मा को ज्ञानधारा और कर्मधारा है।

कोई प्रश्न करे कि बारहवें गुणस्थान में दो धाराएँ हैं या एक ज्ञानधारा ही है? यदि (एक) ज्ञानधारा ही है तो (उसे) अन्तरात्मा मत

कहो और यदि दोनों धाराएँ हैं तो बारहवें गुणस्थान में मोह क्षय हुआ है, राग-द्वेष-मोह सब गए हैं (तो) दूसरी कर्मधारा वहाँ कहाँ रही?

समाधान - ज्ञान परोक्ष है, (क्योंकि) केवलज्ञानावरण है, इसलिए अज्ञानभाव बारहवें गुणस्थान तक है, इससे अन्तरात्मा है; प्रत्यक्षज्ञान बिना वह परमात्मा नहीं है। कषाय गए, किन्तु अज्ञानभाव है, इसलिए वह परमात्मा नहीं हैं, अन्तरात्मा हैं।

प्रश्न - बारहवें (गुणस्थान) में अज्ञान क्या है?

उसका समाधान - केवलज्ञान के बिना सकल पर्यायें नहीं भासतीं, यही अज्ञान है। निज प्रत्यक्ष के बिना भी अज्ञान है इसलिए 'अज्ञान' संज्ञा हुई, इसप्रकार यह मिश्र अधिकार (कहा)।<sup>१</sup>

प्रश्न - हमारे मूलभूत प्रश्न के उत्तर में आपने अभी तक गृहस्थ विद्वानों के शास्त्रों के ही प्रमाण दिये हैं। आपके पास किसी मुनिराज अथवा आचार्यों के संस्कृत/प्राकृत भाषा में भी प्रमाण हैं क्या?

उत्तर - यद्यपि हमारे लिए गृहस्थ विद्वानों के वचन भी प्रमाणभूत हैं, उनकी परम्परा भी सैकड़ों वर्षों से दिगम्बर आमनाय में प्रचलित है, तथापि आपका विशेष आग्रह है तो हम आपको आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार कलश के माध्यम से उत्तर दे रहे हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित समयसार ग्रन्थ पर आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने संस्कृत भाषा में 'आत्मख्याति' नामक चम्पूकाव्यरूप टीका लिखी है। उस टीका के बीच-बीच में संस्कृत श्लोक भी हैं, जिसे 'कलश' नाम से सर्व आध्यात्मरसिकजन जानते हैं; उसमें कुल २७८ कलश हैं, उनमें से पुण्य-पापाधिकार के ११०वें कलश/श्लोक में मिश्रभाव (मिश्रधारा) का कथन अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में आया है।

१. श्री दीपचन्द्रजी कासलीवाल द्वारा रचित अनुभव प्रकाश, मिश्रभाव प्रकरण (ज्ञानधारा-कर्मधारा, पृष्ठ ६२-६४)

२. जिस संस्कृत साहित्य में गद्य तथा पद्य दोनों होते हैं, उसे चम्पूकाव्य कहते हैं।

उसे पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ाकृत अर्थ/भावार्थ तथा डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्लकृत हिन्दी पद्यानुवाद सहित हम यहाँ दे रहे हैं -

(शार्दूलविक्रीडित)

“यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा ;  
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।  
किन्त्वत्राऽपि समुल्लसत्यवशतो, यत्कर्मबन्धाय तन्-  
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं, ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥”

(हरिगीत)

यह कर्मविरति जब तलक ना, पूर्णता को प्राप्त हो।  
हाँ, तब तलक यह कर्मधारा, ज्ञानधारा साथ हो।।  
अवरोध इसमें है नहीं पर, कर्मधारा बन्धमय।  
मुक्तिमार्ग एक ही है, ज्ञानधारा मुक्तिमय॥”

अर्थ - जब तक ज्ञान की कर्मविरति भलीभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती, तब तक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है; उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है, किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि आत्मा में अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह तो बन्ध का कारण है और जो एक परम ज्ञान है, वह एक ही मोक्ष का कारण है, जो कि स्वतः विमुक्त है। (अर्थात् तीनों काल परद्रव्य-भावों से भिन्न है।)

भावार्थ - जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तब तक सम्यग्दृष्टि को दो धाराएँ रहती हैं - शुभाशुभकर्मधारा और ज्ञानधारा।

उन दोनों के एक साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। (जैसे, मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान में परस्पर विरोध है, वैसे कर्मसामान्य और

१. समयसार, कलश ११०

२. डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्ल कृत पद्यानुवाद

ज्ञान में विरोध नहीं है।) ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है।

जितने अंश में शुभाशुभकर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता है।

विषय-कषाय या व्रत-नियम के विकल्प अथवा शुद्धस्वरूप का विचार तक भी कर्मबन्ध का कारण है और शुद्धपरिणतिरूप एक ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।<sup>१</sup>”

समयसार के मर्मी पाण्डे राजमलजी ने भी इसी ११० कलश की टीका लिखते समय और खुलासा किया है; तथापि पुनरावृत्ति न हो, इसलिये हम यहाँ उसे नहीं दे रहे हैं।

इसी विषय पर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी निम्न प्रकार से विवेचन करते हैं -

“साधक जीव के चारित्रगुण की एक पर्याय में दो धाराएँ चलती हैं - १. वीतरागधारा, २. रागधारा। इसी एक पर्याय में चार तत्त्व होते हैं - वीतरागभाव से संवर-निर्जरारूप दो तत्त्व और रागभाव से आस्रव-बन्ध दो तत्त्व।”

धर्म की शुरुआत शुद्धोपयोग से ही होती है। जब ज्ञानी जीव, स्वरूप में लीन नहीं रह पाते, तब भी यथायोग्य कषाय के उदयाभावपूर्वक शुद्धपरिणति बनी रहती है।

ध्यान रहे - यह शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति, चारित्रगुण की पर्याय है; ज्ञानगुण की नहीं। यही कारण है कि ज्ञानोपयोग में ज्ञप्ति-परिवर्तन होने पर भी शुद्धोपयोग और शुद्ध परिणति में कोई बाधा नहीं आती।

स्वरूप-स्थिरतारूप शुद्धोपयोग के कारण शुद्धपरिणति को सहज ही बल प्राप्त होता है।

१. समयसार कलश ११०, पं. जयचन्दजी छाबड़ा

प्रश्न - शुद्धपरिणति किसे कहते हैं?

उत्तर - शुद्धपरिणति की परिभाषा निम्न प्रकार है -

१. सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक आत्मा के चारित्रगुण की यथापदवी प्राप्त शुद्धपर्याय अर्थात् वीतरागपरिणाम को शुद्धपरिणति कहते हैं।
२. कषाय के अनुदय से व्यक्त वीतराग अवस्था को शुद्धपरिणति कहते हैं; इसे ही शुद्धात्मवृत्ति या शुद्धात्मपरिणति भी कहते हैं।
३. जबतक साधक आत्मा की वीतरागता पूर्ण नहीं होती, तबतक साधक आत्मा में शुभोपयोग और अशुभोपयोग के साथ कषाय के अनुदयपूर्वक जो शुद्धता अर्थात् वीतरागता सदैव बनी रहती है; उसे शुद्धपरिणति कहते हैं।<sup>१</sup>

जब तक साधक आत्मा की वीतरागता पूर्ण नहीं होती, तबतक उनके जीवन में अशुद्धोपयोग और शुद्धोपयोग - दोनों होते हैं। अशुद्धोपयोग में शुभोपयोग और अशुभोपयोग - दोनों गर्भित हैं।

जब उग्र पुरुषार्थपूर्वक स्वरूप-स्थिरताजन्य शुद्धोपयोगरूप कार्य विशेष होता है, तब पूर्व की शुद्धपरिणति बढ़ती है।

पुरुषार्थ मन्द होते ही साधक जीव भूमिकानुसार शुभाशुभपरिणामों में वर्तता हुआ शुद्धता की वृद्धि में मन्दता (संख्यातगुनी) होने पर भी यथापदवी कषाय के अनुदयपूर्वक शुद्धपरिणति निरन्तर बनी रहती है।

यही कारण है कि साधक को शुद्धोपयोगी होने से उसके जीवन में कर्मधारा और ज्ञानधारा ये दोनों युगपत् रहते हैं।

प्रश्न - शुद्धपरिणति सर्वप्रथम कब और किसे प्रगट/व्यक्त होती है?

उत्तर - जब यह जीव, शुद्धोपयोगपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट करता है, उसी समय सर्वप्रथम शुद्धोपयोग के साथ शुद्धपरिणति व्यक्त होती है।

१. विशेष देखें, प्रवचनसार गाथा २४६-२५४ की दोनों संस्कृत टीकाएँ।



तदनन्तर जीव जब तक साधक अवस्था में अर्थात् मोक्षमार्गी/मोक्षमार्गस्थ बना रहेगा, तबतक अन्य उपयोग के अर्थात् शुभोपयोग अथवा अशुभोपयोग के काल में भी शुद्धपरिणति धाराप्रवाहरूप से सतत् बनी रहती है।

**प्रश्न – सम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावक और भावलिंगी मुनिराज – इन तीनों अवस्थाओं में शुद्धपरिणति व्यक्त होने की चर्चा सुनने को मिलती है, उसका मर्म क्या है?**

**उत्तर – १.** आसन्न भव्य मिथ्यादृष्टि जीव, मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधा 'अविरत सम्यक्त्व' नामक चौथे गुणस्थान में गमन करता है। **२.** द्रव्यलिंगी श्रावक, मिथ्यात्व से सीधा 'देशविरत' नामक पंचम गुणस्थान में गमन करता है। **३.** द्रव्यलिंगी मुनिराज, मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधा 'अप्रमत्त संयत' नामक सातवें गुणस्थान में गमन करके शुद्धोपयोग के कारण नवीन शुद्धपरिणति प्रगट करते हैं – यह मर्म है।

**प्रश्न – शुद्धपरिणति प्रगट होती है, तब क्या-क्या कार्य होते हैं?**

**उत्तर – शुद्धपरिणति के साथ-साथ निम्न कार्य भी साधक जीवन में होने लगते हैं।**

१. शुद्धोपयोग के काल में मिथ्यात्वकर्म का उपशम होता है; उसी समय सम्यक्त्वरूप धर्म प्रगट होता है और शुद्धपरिणति भी प्रगट होती है, जीव दृष्टिमुक्त होता है।
२. सिद्धों को प्राप्त निराकुल सुख की जाति का आंशिक सच्चा अतीन्द्रिय सुख सम्यग्दर्शन होते ही प्रगट होता है।
३. मोक्षमार्ग व्यक्त होता है अर्थात् संसार का नाश करनेवाले संवर-निर्जरातत्त्व प्रगट होते हैं।
४. अनन्त संसार सान्त होता है।
५. सप्त तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान एवं ज्ञान उदित हो जाता है।

६. पंचेन्द्रिय-भोगों की रुचि का सहजरूप से अभाव हो जाता है।
७. सम्यग्ज्ञानी हो जाने के कारण सभी इष्टानिष्ट संयोगों का जीव, मात्र ज्ञाता बन जाता है।
८. वह सहज ही भगवान (आत्मा) की जघन्य निश्चय स्तुति करनेवाला हो जाता है।

**प्रश्न – शुद्धपरिणति, सर्वप्रथम किसी एक ही गुणस्थान में व्यक्त होती है अथवा भिन्न-भिन्न अनेक गुणस्थानों में भी व्यक्त हो सकती है?**

**उत्तर – सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के काल में शुद्धपरिणति प्रगट होती है तथा वह चौथे गुणस्थान में प्राप्त होती है – ऐसी सामान्य धारणा बनी हुई है, तथापि यह धारणा पूर्ण सत्य नहीं है; क्योंकि सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व, १. चौथे गुणस्थान में ही प्रगट हो, यह अनिवार्य नहीं है। वह चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान २. देशविरत गुणस्थान ३. अप्रमत्तविरत नामक सातवें गुणस्थान में भी प्राप्त हो सकता है। इसप्रकार शुद्धपरिणति भिन्न-भिन्न गुणस्थानों में सर्वप्रथम व्यक्त हो सकती है।**

**प्रश्न – यह कैसे? इसमें कुछ नया और कुछ आगम से प्रतिकूल भी लग रहा है?**

**उत्तर – चौथे, पाँचवें अथवा सातवें गुणस्थान में सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है – यह कथन, न नया है और न शास्त्र-विरोधी; इसका खुलासा इसप्रकार है –**

१. यदि कोई भद्र मिथ्यादृष्टि जीव, अर्थात् सामान्य श्रावक या द्रव्यलिंगी व्रती श्रावक अथवा द्रव्यलिंगी मुनिराज भी मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी के अभावपूर्वक स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ करेंगे तो उन्हें चौथे 'अविरत सम्यक्त्व' गुणस्थान में भी 'उपशम सम्यक्त्व' प्राप्त हो सकता है।

२. यदि कोई द्रव्यलिंगी श्रावक अथवा द्रव्यलिंगी मुनिराज भी मिथ्यात्व एवं दो कषाय-चौकड़ी के अभाव का विशेष पुरुषार्थ करेंगे तो वे मिथ्यात्व गुणस्थान से 'देशविरत' नामक पंचम गुणस्थान को प्राप्त करते हुए देशचारित्र के साथ उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं।

३. इसी प्रकार यदि कोई द्रव्यलिंगी मुनिराज, उत्कृष्ट पुरुषार्थ करेंगे तो वे सकलचारित्र के साथ 'अप्रमत्त संयत नामक सप्तम गुणस्थान में मिथ्यात्व एवं तीन कषाय चौकड़ी के अनुदयपूर्वक उपशम सम्यक्त्व' प्राप्त करते हैं।

**प्रश्न - शुद्धपरिणति किस गुण की पर्याय है?**

**उत्तर -** वैसे देखा जाए तो सामान्यरूप से शुद्धपरिणति, जीव के अनन्त गुणों की मिश्रित पर्याय है; तथापि विशेष अपेक्षा से विचार किया जाए तो शुद्धपरिणति, चारित्र गुण की निर्मल पर्याय है।

इसी तरह शुद्धोपयोग भी 'अनन्त गुणों की मिश्रित पर्याय' है। शुद्धोपयोग का ही दूसरा नाम आत्मानुभूति, आत्मानुभव या अनुभव भी कहा जाता है; अतः कहा भी है -

गुण अनन्त के रस सबै, अनुभव रस के माहिं।

यातैं 'अनुभव' सारिखो और दूसरो नाहिं ॥

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी इसी बात को 'अनन्त गुणांश ते समकित' कहकर समझाया है।

**प्रश्न - क्या शुद्धपरिणति, नरकादि चारों गतियों में बनी रहती है?**

**उत्तर -** इसमें क्या शंका है? नरकादि चारों गतियों के जीवों में धर्म का अंश प्रगट हो जाने के कारण चारों गतियों में शुद्धपरिणति का सद्भाव है।

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, भले तिर्यच या नारकी हों, वे धन्य हैं।

उनके जीवन में अणुव्रतरूप अथवा महाव्रतरूप चारित्र प्रगट नहीं हुआ है, तथापि मोक्षमार्ग व्यक्त हुआ है; इस कारण सम्यग्दृष्टि नारकी व तिर्यच जीव भी कथंचित् सुखी हैं, कथंचित् अतीन्द्रिय आनन्द में हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्र में श्लोक २११-२१४ में बारम्बार स्पष्ट कहा है -

रत्नत्रय बन्ध का कारण नहीं, राग ही बन्ध का कारण है -

असमग्रं भावयतो, रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।

स विपक्षकृतोऽवश्यं, मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

अन्वयार्थं ह्य (असमग्रं) अपूर्ण (रत्नत्रयं) रत्नत्रय की (भावयतः) भावना करनेवाले पुरुष के (यः) जो (कर्मबन्धः) शुभकर्म का बन्ध (अस्ति) होता है, (सः) वह बन्ध (विपक्षकृतः) विपक्षकृत अर्थात् रागकृत है, (और) निश्चय रत्नत्रय तो (अवश्यं) अवश्य ही (मोक्षोपायः) मोक्ष का उपाय है, (न बन्धनोपायः) बन्ध का उपाय नहीं है।

टीका ह्य 'असमग्रं रत्नत्रयं भावयतः यः कर्मबन्धः अस्ति सः विपक्ष- कृतः रत्नत्रयं तु अवश्यं मोक्षोपायः अस्ति न बन्धनोपायः।' ह्य

एकदेशरूप रत्नत्रय के पालन करनेवाले पुरुष को जो कर्मबन्ध होता है, वह रत्नत्रय से नहीं होता; किन्तु रत्नत्रय के विपक्षी राग-द्वेष हैं, उनसे होता है।

रत्नत्रय योग और कषायरूप नहीं हैं, इनसे सर्वथा भिन्न है। वह रत्नत्रय तो वास्तव में मोक्ष का ही उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं।

**भावार्थ -** एकदेश रत्नत्रय धारण करनेवाले जीव के जो कर्मबन्ध होता है, वह कर्मबन्ध उस रत्नत्रय से नहीं होता; बल्कि उसके उस समय विद्यमान जो शुभकषाय है, उसी से होता है। इससे यही सिद्ध हुआ कि कर्मबन्ध करनेवाली तो शुभकषाय है, रत्नत्रय कदापि नहीं।

अब रत्नत्रय और राग का फल बताते हैं -

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥

येनांशेन तु ज्ञानं, तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥

येनांशेन चरित्रं, तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

**अन्वयार्थ -** (अस्य) इस आत्मा के (येनांशेन) जितने अंश में (सुदृष्टिः) सम्यग्दर्शन है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (बन्धनं) बन्ध (नास्ति) नहीं है; (तु) परन्तु (येन) जितने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (रागः) राग है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (बन्धनं) बन्ध (भवति) होता है ।

(येन) जितने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (ज्ञानं) ज्ञान है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (बन्धनं) बन्ध (नास्ति) नहीं है; (तु) परन्तु (येन) जितने (अंशेन) अंश में (रागः) राग है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (बन्धनं) बन्ध (भवति) होता है ।

(येन) जितने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (चरित्रं) चारित्र है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (बन्धनं) बन्ध (नास्ति) नहीं है; (तु) परन्तु (येन) जितने (अंशेन) अंश में (रागः) राग है (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (बन्धनं) बन्ध (भवति) होता है ।

**टीका -** 'येन अंशेन सुदृष्टिः ज्ञानं चरित्रं च तेन अंशेन बन्धनं नास्ति किन्तु येन अंशेन रागः तेन अंशेन बन्धनं भवति' । ह

जितने अंश में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र हैं, उतने अंश में कर्मबन्ध नहीं है तथा जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है ।

**भावार्थ -** जीव के तीन भेद हैं ह १. बहिरात्मा, २. अंतरात्मा, ३. परमात्मा । इन तीनों में से बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसके सम्यग्दर्शन नहीं है, केवल रागभाव ही है, अतः सर्वथा बन्ध ही है ।

परमात्मा भगवान् जिनके पूर्ण सम्यग्दर्शन हो गया है, उनके रागभाव के अत्यन्त अभाव होने के कारण सर्वथा बन्ध नहीं है, मोक्ष ही है ।

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक हैं । इसलिए इस अन्तरात्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन हो गया है, उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं है तथा जितने अंश में राग भाव है, उतने अंश में कर्मबन्ध है ।

चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी रागभाव नहीं है तो उतना कर्मबन्ध भी नहीं है, शेष अप्रत्याख्यानावरणादि तीन का बन्ध है ।

पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानरूप रागभाव का अभाव हुआ, अतः उसका भी बन्ध रुक गया; परन्तु प्रत्याख्यानावरणादि दो कषाय चौकड़ी का बन्ध अभी शेष है ।

छठे-सातवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी रागभाव नष्ट हुआ, तब उतना बन्ध भी मिट गया ।

जितने अंशमें जिस जीव के सम्यग्ज्ञान हो गया है, उतने ही अंश में रागभाव का अभाव होने के कारण कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्मों का बन्ध है ।

**भावार्थ -** मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव के सम्यग्ज्ञान का अभाव है और मिथ्याज्ञान का सद्भाव है । इसलिए उनको पूर्ण राग-द्वेष होने से अवश्य ही कर्म का बन्ध होता है ।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती परमात्मा हैं, उन्हें पूर्ण सम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रकट हो जाने के कारण राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो गया है । अतः उनके कर्म का बन्ध बिलकुल नहीं है ।

१. चतुर्थ गुणस्थान में सभी जीवों का सम्यग्दर्शन तो पूर्ण शुद्ध है; अतः उस अपेक्षा से राग नहीं, बन्ध नहीं; किन्तु जितना चारित्र का दोष है, उतना बन्ध है ।

जो अन्तरात्मा-अविरत सम्यदृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक है, उनके जितने अंश में सम्यग्ज्ञान प्रकट होकर राग-द्वेष मिटता जाता है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नहीं है तथा जितने अंश में राग-द्वेष मौजूद हैं, उतने ही अंश में कर्मबन्ध भी होता रहता है।

जितने अंश में सम्यक्चारित्र प्रकट हो गया है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नहीं है। जितने अंश में राग-द्वेषभाव हैं, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है; ऊपर की तरह यहाँ भी समझ लेना।

बहिरात्मा के मिथ्याचारित्र है, सम्यक्चारित्र रंचमात्र भी नहीं है। अतः उसके राग द्वेष की पूर्णता होने से कर्म का पूर्ण बन्ध है।

परमात्मा के पूर्ण सम्यक्चारित्र होने के कारण रंचमात्र भी कर्म का बन्ध नहीं है।

अन्तरात्मा के जितने अंश में राग-द्वेषभाव का अभाव है, उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग-द्वेष हैं, उतने अंश में कर्म का बन्ध है।

**भावार्थ** - मोहनीयकर्म के दो भेद हैं ह्य दर्शनमोह, चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है और चारित्रमोह के उदय से मिथ्याचारित्र अथवा अचारित्र होता है।

चारित्र के दो भेद हैं ह्य एक स्वरूपाचरण, दूसरा संयमाचरण। इनमें से जघन्य स्वरूपाचरण अर्थात् सम्यक्त्वचरण तो चतुर्थ गुणस्थान में प्रकट होता ही है तथा संयमाचरण के दो भेद हैं, एकदेश और सर्वदेश।

पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक के तो एकदेश चारित्र है और छठवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मुनिराज के सकलदेश चारित्र है तथा तेरहवें गुणस्थान में पहुँचने पर वे ही मुनिराज जिनराज बन गये और परमात्मा कहलाये, वहाँ उनके सम्यक्चारित्र की पूर्णता होकर बन्ध का अभाव हो गया।

जितना-जितना उन कषायों का अभाव होता जाता है, उतना-उतना ही उसके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्र गुण का विकास होता जाता है।

जैसे कि दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर सम्यग्दर्शन होता है और अनंतानुबन्धी चौकड़ी का अभाव होने पर उतने अंश में १. स्वरूपाचरणचारित्र/सम्यक्त्वाचरणचारित्र प्रकट होता है। अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी का अभाव होने से २. देशचारित्र प्रकट होता है। प्रत्याख्यानावरण चौकड़ी का अभाव होने से ३. सकलचारित्र प्रकट होता है तथा संज्वलन चौकड़ी और नव नोकषाय का अभाव होने से ४. यथाख्यातचारित्र प्रकट होता है -

इसतरह इस मोहनीयकर्म की २५ प्रकृतियाँ ही जीव को राग-द्वेष होने में निमित्त कारण हैं।

उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान, प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान, संज्वलन क्रोध-मान - ये आठ और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा - सब मिलकर बारह प्रकृतियाँ तो द्वेषरूप परिणामन में निमित्त हैं तथा शेष तेरह प्रकृतियाँ रागरूप परिणामन में निमित्त हैं।

इसप्रकार अनादिकाल से यह जीव इन्हीं २५ कषायों के वशीभूत होकर नित्य अनेक दुष्कर्म करता हुआ संसारसागर में भ्रमण कर रहा है, अतः आठों कर्मों में इस मोहनीयकर्म को सर्वप्रथम जीतना चाहिए।

जबतक मोहनीयकर्म की पराजय न हो, तबतक शेष कर्मों की पराजय हो ही नहीं सकती। इसलिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करके दर्शनमोह का, सम्यग्ज्ञान से ज्ञानावरण का और सम्यक्चारित्र से चारित्रमोहनीय का नाश करके सम्यक् रत्नत्रय प्रकट करना चाहिए।

जब कोई भी जीव इसी क्रम से कर्मों का नाश करके आत्मा के गुणों का विकास करेगा, तभी वह अपने ध्येय को प्राप्त कर सकेगा।

प्रश्न - व्रत, बन्ध का ही कारण है - यह कथन खटकता है, मन को स्वीकृत नहीं होता है; क्योंकि प्रमत्तविरत नामक छठवें

गुणस्थानवर्ती मुनिराज तो भावलिङ्गी महापुरुष हैं, उनको तो संवर-निर्जरा सतत् होते ही रहते हैं ना?

उत्तर – व्रत के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य श्री उमास्वामी ने शुभास्रव के कारण रूप अणुव्रत और महाव्रतों का कथन सातवें अध्याय में किया है और इन व्रतों से पुण्यास्रव होता है – यह स्पष्ट किया है। आस्रवपूर्वक ही बन्ध होता है – यह बात स्पष्ट ही है। इसकारण व्रतरूप पुण्यपरिणाम से मात्र बन्ध ही होता है – यह विषय समझ में आता है।

व्रतरूप परिणाम मात्र बन्ध का ही कारण है – इस सम्बन्ध में अत्यन्त स्पष्ट विवेचन, नाटक समयसार के मर्मी पाण्डे श्रीराजमलजी ने समयसार कलश टीका में अनेक कलशों (श्लोक १०३-१०९) में किया है, उसे हम यहाँ दे रहे हैं –

(स्वागता)

“कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्, बन्धसाधनमुशन्यविशेषात्।

तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं, ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥”

खण्डान्वय सहित अर्थ – ‘यत् सर्वविदः सर्व अपि कर्म अविशेषात् बन्धसाधनं उशन्ति’ (यत्) जिस कारण (सर्वविदः) सर्वज्ञ वीतराग (सर्व अपि कर्म) जितनी शुभरूप व्रत, संयम, तप, शील, उपवास इत्यादि क्रिया अथवा विषय-कषाय, असंयम इत्यादि क्रिया उसको (अविशेषात्) एक-सी दृष्टिकर (बन्धसाधनं उशन्ति) बन्ध का कारण कहते हैं।

भावार्थ इस प्रकार है – जैसे, जीव को अशुभक्रिया करते हुए बन्ध होता है, वैसे ही शुभक्रिया करते हुए जीव को बन्ध होता है, बन्धन में तो विशेष कुछ नहीं।

‘तेन तत् सर्व अपि प्रतिषिद्धं’ (तेन) इस कारण (तत्) कर्म (सर्व अपि) शुभरूप अथवा अशुभरूप, (प्रतिषिद्धं) (दोनों का निषेध किया है, उनमें) कोई मिथ्यादृष्टि जीव, शुभक्रिया को मोक्षमार्ग जानकर पक्ष करता है सो निषेध किया, (तथा) ऐसा भाव स्थापित किया कि मोक्षमार्ग कोई कर्म नहीं।

‘एव ज्ञानं शिवहेतुः विहितं’ (एव ज्ञानं) निश्चय से शुद्धस्वरूप अनुभव (शिवहेतुः) मोक्षमार्ग है, (विहितं) अनादि-परम्परा से ऐसा उपदेश है।

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन्, सुकृतदुरिते, कर्मणि किल  
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये, न खलु मुनयः, सन्त्यशरणाः।  
तदा ज्ञाने ज्ञानं, प्रतिचरितमेषां, हि शरणं  
स्वयं विन्दन्त्येते, परमममृतं, तत्र निरताः ॥”

खण्डान्वय सहित अर्थ – यहाँ कोई प्रश्न करता है कि (आपने) शुभक्रिया तथा अशुभक्रिया सर्व निषिद्ध की, (तो) मुनीश्वर किसे अवलम्बते हैं?

उसका ऐसा समाधान किया जाता है – ‘सर्वस्मिन् सुकृत-दुरिते कर्मणि निषिद्धे’ (सर्वस्मिन्) आमूल चूल (सुकृत) व्रत, संयम, तपरूप क्रिया अथवा शुभोपयोगरूप परिणाम (दुरिते) विषय-कषायरूप क्रिया अथवा अशुभोपयोगरूप संक्लेश परिणाम – ऐसी (कर्मणि) करतूतिरूप (निषिद्धे) मोक्षमार्ग नहीं ऐसा मानते हुए ‘किल नैष्कर्म्ये प्रवृत्ते’ (किल) निश्चय से (नैष्कर्म्ये) सूक्ष्म-स्थूलरूप अन्तर्जल्प-बहिर्जल्परूप समस्त विकल्पों से रहित निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यमात्र प्रकाशरूप वस्तु मोक्षमार्ग, ऐसा (प्रवृत्ते) एकरूप ऐसा ही है – ऐसा

निश्चय ठहराते हुए - 'खलु मुनयः अशरणाः न सन्ति' (खलु) निश्चय से (मुनयः) संसार-शरीर-भोग से विरक्त होकर धारा है यतिपना जिन्होंने, वे (अशरणः न सन्ति) आलम्बन के बिना शून्य मन - ऐसे तो नहीं हैं।

तो कैसा है? 'तदा हि एषां ज्ञानं स्वयं शरणं' (तदा) जिस काल में ऐसी प्रतीति आती है कि अशुभक्रिया मोक्षमार्ग नहीं, शुभक्रिया भी मोक्षमार्ग नहीं; उस काल में (हि) निश्चय से (एषां) मुनीश्वरों को (ज्ञानं स्वयं शरणं) शुद्ध स्वरूप का अनुभव सहज ही आलम्बन है।

कैसा है ज्ञान? 'ज्ञाने प्रतिचरितं' जो बाह्यरूप परिणमा था वही अपने शुद्धस्वरूप परिणमा है। शुद्धस्वरूप का अनुभव होने पर कुछ विशेष भी है, ऐसा कहते हैं - 'एते तत्र निरताः परमं अमृतं विन्दन्ति' (एते) (साक्षात्) विद्यमान जो सम्यग्दृष्टि मुनीश्वर (तत्र) शुद्धस्वरूप के अनुभव में (निरताः) मग्न हैं, वे (परमं अमृतं) सर्वोत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुख को (विन्दन्ति) आस्वादते हैं।

भावार्थ इस प्रकार है - शुभ-अशुभ-क्रिया में मग्न होता हुआ जीव विकल्पी है, इससे दुखी है। क्रिया-संस्कार छूटकर शुद्धस्वरूप का अनुभव होते ही जीव निर्विकल्प (होता) है, इससे सुखी है।

(शिखरिणी)

यदेतद् ज्ञानात्मा, ध्रुवमचलमाभाति भवनं  
शिवस्यायं हेतुः, स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।  
अतो ऽन्यद् बन्धस्य, स्वयमपि यतो, बन्ध इति तत्  
ततो ज्ञानात्मत्वं, भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥<sup>१</sup>

खण्डान्वय सहित अर्थ - 'यत् एतत् ज्ञानात्मा भवनं ध्रुवं अचलं आभाति अयं शिवस्य हेतुः' (यत् एतत्) जो कोई चेतनालक्षण ऐसा

(भवनं) सत्त्वस्वरूप वस्तु, (उसे) (ध्रुवं अचलं) निश्चय से स्थिर होकर (आभाति) प्रत्यक्षरूप से स्वरूप का आस्वादक कहा है - (अयं) यही (शिवस्य हेतुः) मोक्ष का मार्ग है।

शंका - किस कारण से?

समाधान - 'यतः स्वयं अपि तत् शिव इति' (यतः) जिस कारण (स्वयं अपि) अपने आप भी (तच्छिव इति) मोक्षरूप है।

भावार्थ इसप्रकार है - जीव का स्वरूप सदा कर्म से मुक्त है, उसको अनुभवने पर मोक्ष होता है - ऐसा घटता है, विरुद्ध तो नहीं। 'अतः अन्यत् बन्धस्य हेतुः' (अतः) शुद्धस्वरूप का अनुभव मोक्षमार्ग है, इसके बिना (अन्यत्) जो कुछ शुभक्रियारूप-अशुभक्रियारूप अनेक प्रकार हैं, (बन्धस्य हेतुः) वे सब बन्ध के मार्ग हैं; 'यतः स्वयं अपि बन्ध इति' (यतः) जिस कारण (स्वयं अपि) अपने आप भी (बन्ध इति) सर्व ही बन्धरूप है।

'ततः तत् ज्ञानात्मा स्वं भवनं विहितं हि अनुभूतिः' (ततः) तिस कारण (तत्) पूर्वोक्त (ज्ञानात्मा) चेतनालक्षण, ऐसा (स्वं भवनं) अपना जीव का सत्त्व (विहितम्) मोक्षमार्ग है, (वह भी) (हि) निश्चय से (अनुभूतिः) प्रत्यक्षपने आस्वाद किया होता हुआ ॥

(अनुष्टुभ)

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन, ज्ञानस्य भवनं सदा ।  
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥<sup>१</sup>

खण्डान्वय सहित अर्थ - 'ज्ञानस्वभावेन वृत्तं तत् तत् मोक्षहेतुः एव' (ज्ञान) शुद्ध वस्तुमात्र, उसकी (स्वभावेन) स्वरूप-निष्पत्ति, उससे जो (वृत्तं) स्वरूपाचरणचारित्र (तत् तत् मोक्षहेतुः) वही-वही मोक्षमार्ग है; (एव) इस बात में सन्देह नहीं।

भावार्थ इसप्रकार है – कोई जानेगा कि स्वरूपाचरणचारित्र ऐसा कहा जाता है, जो आत्मा के शुद्धस्वरूप को विचारे अथवा चिन्तवे अथवा एकाग्ररूप से मग्न होकर अनुभवे सो ऐसा तो नहीं (कि) उसके करने पर बन्ध होता है, क्योंकि ऐसा तो स्वरूपाचरणचारित्र नहीं है।<sup>१</sup>

शंका – तो स्वरूपाचरणचारित्र कैसा है?

समाधान – जिस प्रकार पत्रा (सुवर्णपत्र) पकाने से सुवर्ण की कालिमा जाती है, सुवर्ण शुद्ध होता है, उसीप्रकार जीवद्रव्य के अनादि से अशुद्धचेतनारूप रागादि परिणमन था, वह जाता है और शुद्ध स्वरूपमात्र शुद्धचेतनारूप जीवद्रव्य परिणमता है, उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र कहा जाता है; ऐसा मोक्षमार्ग है।

कुछ विशेष – वह शुद्धपरिणमन जहाँ तक सर्वोत्कृष्ट होता है वहाँ तक शुद्धपना के अनन्त भेद हैं। वे भेद जातिभेद की अपेक्षा तो नहीं। बहुत शुद्धता, उससे बहुत, उससे बहुत – ऐसा थोड़ा-बहुतरूप (परिमाण भेद) भेद है।

भावार्थ इसप्रकार है – जितनी शुद्धता होती है, उतनी ही मोक्ष का कारण है। जब सर्वथा शुद्धता होती है, तब सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

शंका – किस कारण?

समाधान – ‘सदा ज्ञानस्य भवनं एकद्रव्य-स्वभावत्वात्’ (सदा) तीनों कालों में ही (ज्ञानस्य भवनं) ऐसा है जो शुद्धचेतनापरिणमनरूप स्वरूपाचरणचारित्र, वह आत्मद्रव्य का निज-स्वरूप है, शुभाशुभक्रिया के समान उपाधिरूप नहीं है, इस कारण (एकद्रव्यस्वभावत्वात्) एक जीवद्रव्यस्वरूप है।

१. स्वरूप के विकल्प में मग्न होकर अनुभवे – यह भी स्वरूपाचरण चारित्र नहीं है; क्योंकि यह शुभराग में एकाग्रता है। - कलशामृत प्रवचन भाग-३, पृष्ठ-३२४

भावार्थ इसप्रकार है – कि जो गुण-गुणीरूप भेद करते हैं तो ऐसा भेद होता है कि जीव का शुद्धपना गुण है। जो वस्तुमात्र अनुभव करते हैं तो ऐसा भेद भी मिटता है, क्योंकि शुद्धपना तथा जीवद्रव्य-वस्तु तो एक सत्ता है – ऐसा शुद्धपना मोक्ष-कारण है, इसके बिना जो कुछ करतूतिरूप है, वह समस्त बन्ध का कारण है।।

(अनुष्टुभ)

वृत्तं कर्मस्वभावेन, ज्ञानस्य भवनं न हि।

द्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥<sup>१</sup>

खण्डान्वय सहित अर्थ – ‘कर्मस्वभावेन वृत्तं ज्ञानस्य भवनं न हि’ (कर्मस्वभावेन) जितना शुभक्रियारूप अथवा अशुभक्रियारूप आचरणलक्षण चारित्र, उसके स्वभाव से अर्थात् उसरूप जो (वृत्तं) चारित्र वह (ज्ञानस्य) शुद्ध चैतन्यवस्तु का (भवनं) शुद्धस्वरूप परिणमन (न हि) नहीं होता – ऐसा निश्चय है।

भावार्थ इसप्रकार है – जितना शुभ-अशुभक्रियारूप आचरण अथवा बाह्यरूप वक्तव्य अथवा सूक्ष्म अन्तरंगरूप चिन्तवन अभिलाष, स्मरण इत्यादि समस्त अशुद्धत्वरूप परिणमन है, शुद्ध परिणमन नहीं; इसलिए बन्ध का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है।

इस कारण जिस प्रकार कामला का नाहर (सिंह) (कपड़े पर बनाया हुआ) कहने के लिए नाहर है; उसी प्रकार आचरणरूप (क्रियारूप) चारित्र कहने के लिए चारित्र है, परन्तु चारित्र नहीं है, निःसन्देहरूप से ऐसा जानो। ‘तत् कर्म मोक्षहेतुः न’ (तत्) इस कारण (कर्म) बाह्य-आभ्यन्तररूप सूक्ष्म-स्थूलरूप जितना आचरणरूप (चारित्र) है, वह (मोक्षहेतुः न) कर्मक्षपणा का कारण नहीं, बन्ध का कारण है।

शंका – किस कारण से?

१. समयसार कलश १०७

समाधान – ‘द्रव्यान्तर-स्वभावत्वात्’ (द्रव्यान्तर) आत्मद्रव्य से भिन्न पुद्गलद्रव्य, उसके (स्वभावत्वात्) स्वभावरूप होने से अर्थात् यह सब पुद्गलद्रव्य के उदय का कार्य है, जीव का स्वरूप नहीं है।

भावार्थ इसप्रकार है – जो शुभ-अशुभ क्रिया, सूक्ष्म-स्थूल अन्तर्जल्प-बहिर्जल्परूप जितना विकल्परूप आचरण है, वह सब कर्म का उदयरूप परिणमन है, जीव का शुद्ध परिणमन नहीं है; इसलिए समस्त ही आचरण मोक्ष का कारण नहीं है, बन्ध का कारण है।

(अनुष्टुभ)

मोक्षहेतुतिरोधानाद्, बन्धत्वात्स्वयमेव च।

मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥<sup>१</sup>

शंका – यहाँ कोई जानेगा कि शुभ-अशुभ क्रियारूप जो आचरणरूप चारित्र है सो करने योग्य नहीं है, उसी प्रकार वर्जन करने योग्य भी नहीं है क्या?

उत्तर इस प्रकार है – वर्जन करने योग्य है। कारण कि व्यवहार चारित्र, होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है; इसलिए विषय-कषाय के समान क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है – ऐसा कहते हैं – ‘तत् निषिध्यते’ (तत्) शुभ-अशुभरूप करतूति (निषिध्यते) तजनीय है।

शंका – कैसा होने से निषिद्ध है?

समाधान – ‘मोक्षहेतुतिरोधानात्’ (मोक्ष) निष्कर्म अवस्था, उसका (हेतु) कारण है जीव का शुद्धरूप परिणमन, उसका (तिरोधानात्) घातक है; इसलिए करतूति निषिद्ध है।

शंका – और कैसा होने से?

समाधान – ‘स्वयं एव बन्धत्वात्’ अपने आप भी बन्धरूप है। भावार्थ इसप्रकार है – जितना शुभ-अशुभ आचरण है, वह सब

कर्म के उदय के कारण अशुद्धरूप है, इसलिए त्याज्य है, उपादेय नहीं है।

शंका – और कैसा होने से?

समाधान – ‘मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्’ (मोक्ष) सकल कर्मक्षयलक्षण परमात्मपद, उसका (हेतु) जीव का गुण जो शुद्ध चेतनारूप परिणमन उसका (तिरोधायि) घातनशील ऐसा है (भावत्वात्) सहज लक्षण जिसका, ऐसा है; इसलिए कर्म निषिद्ध है।

भावार्थ इसप्रकार है – जिसप्रकार पानी स्वरूप से निर्मल है, कीचड़ के संयोग से मैला होता है – पानी का शुद्धपना घाता जाता है।

उसीप्रकार जीवद्रव्य, स्वभाव से स्वच्छस्वरूप है – केवलज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप है, वह स्वच्छपना विभावरूप अशुद्ध चेतनालक्षण मिथ्यात्व – विषय-कषायरूप परिणाम के कारण मिटा है। अशुद्ध परिणाम का ऐसा ही स्वभाव है, जो शुद्धपना को मेटे, इसलिए समस्त कर्म निषिद्ध है।

भावार्थ इसप्रकार है – कोई जीव क्रियारूप यतिपना पाते हैं, उस यतिपने में मग्न होते हैं – जो ‘हमने मोक्षमार्ग पाया, जो कुछ करना था सो किया’, सो उन जीवों को समझाते हैं कि यतिपना का भरोसा छोड़कर, शुद्ध चैतन्यस्वरूप को अनुभवो।

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना  
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा, पुण्यस्य पापस्य वा।  
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्  
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं, ज्ञानं स्वयं धावति ॥<sup>१</sup>



खण्डान्वय सहित अर्थ - 'मोक्षार्थिना तत् इदं समस्तं अपि कर्म संन्यस्तव्यम्' (मोक्षार्थिना) सकलकर्मक्षयलक्षण मोक्ष - अतीन्द्रिय पद, उसमें जो अनन्त सुख, उसको उपादेय अनुभवता है - ऐसा है, जो कोई जीव, उसके द्वारा वही कर्म जो पहले ही कहा था (समस्तं अपि) जितना १. शुभक्रियारूप २. अशुभक्रियारूप, ३. अन्तर्जल्परूप, ४. बहिर्जल्परूप इत्यादि करतूतिरूप (कर्म) क्रिया अथवा ज्ञानावरणादि पुद्गल का पिण्ड, अशुद्ध रागादिरूप जीव के परिणाम - ऐसा कर्म, (संन्यस्तव्यं) जीवस्वरूप का घातक है - ऐसा जानकर आमूलचूल त्याज्य है।

'तत्र संन्यस्ते सति' उस समस्त ही कर्म का त्याग होने पर "पुण्यस्य वा पापस्य वा का कथा" पुण्य का पाप का कौन भेद रहा?

भावार्थ इसप्रकार है - समस्त कर्मजाति हेय है, पुण्य-पाप के विवरण की क्या बात रही? 'किल' ऐसी बात निश्चय से जानो, पुण्यकर्म भला - ऐसी भ्रान्ति मत करो। 'ज्ञानं मोक्षस्य हेतुः भवन् स्वयं धावति' (ज्ञानं) आत्मा का शुद्ध चेतनारूप परिणामन (मोक्षस्य) सकलकर्मक्षयलक्षण ऐसी अवस्था का (हेतुः भवन्) कारण होता हुआ (स्वयं धावति) स्वयं दौड़ता है - ऐसा सहज है।

भावार्थ इसप्रकार है - जैसे सूर्य का प्रकाश होने पर सहज ही अन्धकार मिटता है, वैसे ही जीव के शुद्धचेतनारूप परिणामने पर सहज ही समस्त विकल्प मिटते हैं, ज्ञानावरणादि कर्म अकर्मरूप परिणामते हैं, रागादि अशुद्धपरिणाम मिटता है।

शंका - कैसा है ज्ञान?

समाधान - 'नैष्कर्म्यप्रतिबद्धं' निर्विकल्पस्वरूप है।

शंका - और कैसा है? 'उद्धतरसं' प्रगटरूप से चैतन्यस्वरूप है। कैसा होने से मोक्ष का कारण होता है?

समाधान - 'सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनात्' जीव का गुण (सम्यक्त्व) जीव का गुण सम्यग्दर्शन (आदि) सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र ऐसे हैं जो (निजस्वभाव) जीव के क्षायिकगुण, उनके (भवनात्) प्रगटपने के कारण। भावार्थ इसप्रकार है -

शंका - कोई आशंका करेगा कि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - इन तीन का मिला हुआ है, यहाँ ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग कहा सो क्यों कहा?

उसका समाधान ऐसा है - शुद्धस्वरूप ज्ञान में सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र सहज ही गर्भित हैं, इसलिए दोष तो कुछ नहीं, गुण है।''१

भाई! जहाँ सम्यग्दर्शन होते ही चौथे अविरत गुणस्थान में भी संवर-निर्जरा (मोक्षमार्ग) का प्रारम्भ होता है, वहाँ प्रमत्तसंयत-गुणस्थानवर्ती भावलिंगी सन्तों को तो प्रचुर मात्रा में संवर-निर्जरा होते ही रहते हैं; इसका कारण उनकी व्यक्त वीतरागता/शुद्धपरिणति ही है।

प्रश्न - छठे प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती मुनिराजों के संवर-निर्जरा होने का कारण क्या है?

उत्तर - उक्त मुनिराजों को अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ - इस तरह तीन कषाय-चौकड़ी के उदयाभावपूर्वक व्यक्त विशेष प्रकार की शुद्ध-परिणति सदाकाल बनी ही रहती है; वही शुद्धपरिणति संवर-निर्जरा का कारण है।

प्रश्न - यदि शुद्धपरिणति को स्वीकार नहीं करें तो क्या बाधा आएगी?

उत्तर - साधक जीव शुभभाव के काल में इसी शुद्धपरिणति के बल द्वारा शुद्धोपयोग का पुरुषार्थ करता है और स्वरूप में लीन होते हुए धर्म को बढ़ाता है। यदि शुद्धपरिणति का स्वीकार न हो तो शुभभाव

१. देखें, समयसार कलश टीका, श्लोक १०३-१०९

को धर्म मानते हुए सन्तुष्ट होकर स्वर्ग में तो चला जाएगा; परन्तु मोक्षमार्ग से वंचित ही रहेगा। तथा मुनि-जीवन में मात्र शुभाशुभ परिणति ही मानने का प्रसंग प्राप्त होगा।

इसप्रकार यदि कोई समझदार व्यक्ति सत्य को स्वीकार करेगा तो वह अपना आत्मकल्याण कर पाएगा और यदि सत्य को स्वीकार ही नहीं करेगा तो वह स्वयं आत्मकल्याण से वंचित रहेगा।

अनादिकाल से आज तक स्वयं स्वीकृत अज्ञान से सत्य को स्वीकार न करने से अज्ञानी अनन्त दुःख भोग रहा है और आगे भी भोगता रहेगा। यदि आप सर्वज्ञ भगवान् कथित सत्य को स्वीकार नहीं करोगे तो वस्तुस्थिति तो नष्ट नहीं होगी; तथापि जो स्वीकार नहीं करेगा, उसका अमूल्य मनुष्य जीवन व्यर्थ ही चला जाएगा। परम सत्य समझने का अवसर बार-बार नहीं आता। अस्तु।

**प्रश्न - शुभाशुभपरिणति का विषय मात्र आपके कहने से हमें मान्य नहीं है; इसे कहीं शास्त्र में मुनिराजों ने भी कहा हो तो बताइए?**

**उत्तर -** आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार कलश ३ में स्वयं 'परपरिणतिहेतोः' कहा ही है। वहाँ आचार्य महाराज ने शुभविकल्परूप शुभपरिणति को ही परपरिणति कहा है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कृत नियमसार परमागम की मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कृत टीका के कलश २०९ में भी शुभ और अशुभपरिणति का उल्लेख आया है; उसे हम यहाँ मूल संस्कृत तथा डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत हिन्दी अनुवाद सहित दे रहे हैं -

(शिखरिणी)

सुखं दुःखं योनौ, सुकृतदुरितव्रातजनितं,  
शुभाभावो भूयो ऽ शुभपरिणतिर्वा न च न च।  
यदेकस्याप्युच्चैर्भवपरिचयो, बाढमिह नो,  
य एवं संन्यस्तो, भवगुणगणैः, स्तौमि तमहम् ॥<sup>१</sup>

**श्लोकार्थ -** योनौ (संसार) में सुख और दुःख, सुकृत और दुष्कृत समूह से होता है (अर्थात् चार गति के जन्मों में सुख-दुःख, शुभाशुभ कृत्यों से होता है)। दूसरे प्रकार (निश्चयनय) से आत्मा को शुभ का भी अभाव है तथा अशुभपरिणति भी नहीं है, नहीं है; क्योंकि इस लोक में एक आत्मा को (अर्थात् आत्मा सदा एकरूप होने से उसे) निश्चितरूप से भव का परिचय बिल्कुल नहीं है। इसप्रकार जो भवगुणों के समूह से संन्यस्त है (अर्थात् जो शुभ-अशुभ, राग-द्वेष आदि भव के गुणों से - विभावों से रहित है), उसका (नित्यशुद्ध आत्मा का) मैं स्तवन करता हूँ।

अब यहाँ शुभोपयोग-अशुभोपयोग तथा शुभपरिणति-अशुभपरिणति का स्वरूप परिभाषाओं के माध्यम से समझते हैं -

**प्रश्न - शुभोपयोग किसे कहते हैं?**

**उत्तर -** सामान्यतया शुभभाव, शुभपरिणाम या शुभयोग को ही शुभोपयोग कह दिया जाता है, तथापि प्रवचनसार की मूल गाथा एवं उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका में शुभोपयोग को विशिष्टरूप में प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार हैं - 'विशिष्ट क्षयोपशमदशा विश्रान्त' कहकर जो उपयोग अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप उपयोग, परम भट्टारक देवाधिदेव परमेश्वर अरहन्त, सिद्ध व साधु की श्रद्धा करने तथा समस्त जीव-समूह की अनुकम्पा का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है।<sup>१</sup>

**प्रश्न - अशुभोपयोग किसे कहते हैं ?**

**उत्तर -** सामान्यतया अशुभभाव, अशुभ परिणाम या अशुभोपयोग को ही अशुभोपयोग कह दिया जाता है, तथापि प्रवचनसार की मूल गाथा एवं उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका में अशुभोपयोग को 'विशिष्ट उदयदशा विश्रान्त' कहकर विशिष्टरूप में प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार

है – जो उपयोग अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप उपयोग, परम भट्टारक देवाधिदेव परमेश्वर अरहन्त, सिद्ध व साधु के अतिरिक्त अन्य उन्मार्ग की श्रद्धा करने तथा विषय-कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है।<sup>१</sup>

**प्रश्न – शुभपरिणति किसे कहते हैं?**

**उत्तर –** जब उपयोग, तारतम्यरूप से कभी शुभ, कभी अशुभ या कभी शुद्धरूप चलता हो अर्थात् जब शुभोपयोग, अशुभोपयोग या शुद्धोपयोगरूप वर्तता हो, तब भी उस काल में जीव का सहजरूप से अन्तरंग में जो शुभरूप या पुण्यरूप परिणाम चलता रहता है, उसे ही शुभपरिणति कहते हैं।

जैसे, सती सीता का वियोग श्री रामचन्द्रजी को अनेक महीनों तक रहा; उन दिनों में उनका उपयोग मुख्यरूप से इष्टवियोगज अशुभ आर्त्तध्यानरूप अर्थात् अशुभोपयोगरूप था, परन्तु उस काल में भी श्री रामचन्द्रजी के मन में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु विषयक जो अचल श्रद्धा-ज्ञान-आचरण का भाव था, वही उनकी शुभपरिणति थी।

जैसे, तीर्थयात्रा के लिए जाने के प्रसंग में दुकान आदि की व्यवस्था बनाने में लगे रहना – यह तो हो गया अशुभोपयोग और उसी काल में मन में तीर्थयात्रा पर जाने का पुण्यमय शुभपरिणाम, वह शुभपरिणति है।

**प्रश्न – अशुभपरिणति किसे कहते हैं?**

**उत्तर –** जब शुभोपयोग, अशुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग के काल में भी कषायसहित जीव का जो सहजरूप से कषायांश के सद्भाव के कारण विषयादि में प्रवर्तने का अशुभरूप या पापरूप परिणाम धारावाही रूप से अबुद्धिपूर्वक चलता रहता है, उसे अशुभपरिणति कहते हैं।

जैसे, मन्दिर में मनोयोगपूर्वक भगवान की अष्ट द्रव्य से श्रावक

१. प्रवचनसार गाथा १५८ एवं तत्त्वप्रदीपिका टीका

पूजन कर रहा है; उसी समय पूजन के बाद भोजन करके दुकान पर जाना है, बैंक में भी जाना है – ऐसी जो योजना मन में अबुद्धिपूर्वक चल रही है, वह अशुभपरिणति है।

जैसे, कोई भी सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती सम्राट, छह खण्ड को जीतने के लिए अनेक वर्षों तक निकलता है; उस समय उसके तीनों परिणतियाँ यथायोग्यरूप से वर्तती ही रहती हैं।

१. गुणस्थान चौथा होने के कारण मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय की उदयाभावरूप अवस्था होने से शुद्धपरिणति तो निरन्तर रहती ही है।

२. कदाचित् सामायिक आदि करते समय उसे कभी-कभी शुद्धोपयोग भी हो सकता है, परन्तु शुद्धपरिणति तो उसे हमेशा ही बनी रहती है।

३. उन दिनों में भी उसका शास्त्र-स्वाध्याय और तत्त्वचर्चा तो चलती ही रहती है – ऐसी शुभोपयोग की अवस्था कभी कभी और शुभपरिणति की अवस्था निरन्तर रहती है।

४. इसीप्रकार परिग्रह बढ़ाने की भावना, शादी करने का परिणाम, अन्य राजा लोगों को अपने वश में रखने का भाव – इत्यादि सब अशुभोपयोग की अवस्था कभी-कभी और गुणस्थानानुसार अशुभपरिणति की अवस्था निरन्तर रहती है।

**प्रश्न – शुद्धपरिणति के साथ जो शुभाशुभभावरूप अशुद्धपरिणति होती है, उसे ध्यान में रखकर शास्त्र में क्या शुभ-अशुभभावों या शुभ-अशुभोपयोगों को समान बताया गया है?**

**उत्तर –** हाँ, समयसार में जो पुण्य-पाप अधिकार लिखा गया है, उसे तो मात्र पुण्य-पाप की एकता बताने के लिए ही लिखा गया है।

नाटक समयसार में इस अधिकार का नाम ही 'पुण्य-पाप एकत्व द्वार' रख दिया गया है।

आचार्य जयसेन ने इस पुण्य-पाप अधिकार को पुण्याधिकार और पापाधिकार के नाम से दो भागों में बाँटा है, वहाँ व्यवहाररत्नत्रय को भी पापाधिकार में अन्तर्गर्भित करते हुए कहा है कि व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभोपयोग भी 'स्वरूप से पतित करता है, च्युत करता है; अतः वह भी इस अपेक्षा से पाप ही है।'

मुनिराज श्री योगेन्दुदेव ने योगसार के दोहा ७१ में पुण्य को भी ज्ञानीजन पाप कहते हैं, ऐसा स्पष्ट कहा है -

जो पाउ वि सो पाउ मुणि, सब्बु इ को वि मुणेहि ।

जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ, सो बुह को वि हवेइ ।

( हरिगीत )

इस पाप को सारा जगत्, ही बोलता ह्व यह पाप है।

पर कोई विरला बुध कहे, कि पुण्य भी तो पाप है।।

अर्थात् अहो ! जो पाप है, उसे तो सभी पाप मानते हैं, परन्तु जो पुण्य को भी पाप कहता है, वह कोई विरला ज्ञानी ही होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार गाथा ७७ में स्पष्ट कहा है -

ण हि मण्णदि जो एवं, णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।

हिंडदि घोरमपारं, संसारं मोहसंछण्णो ।।

( हरिगीत )

पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है, - जो न माने बात ये।

संसार-सागर में भ्रमं, मद-मोह से आच्छन्न वे।।<sup>१</sup>

अर्थात् इसप्रकार जो व्यक्ति 'पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं है' - ऐसा नहीं मानता है अर्थात् उन्हें समानरूप से हेय नहीं मानता है; वह मोह से आच्छन्न प्राणी, अपार घोर संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करता है।

१. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत पद्यानुवाद, प्रवचनसार गाथा ७७

प्रश्न - परिणति के भेदों की चर्चा और भी कहीं मिलती है क्या?

उत्तर - कविवर श्री भागचन्दजी छाजेड़ ने एक आध्यात्मिक भजन के माध्यम से परिणति के भेदों को अत्यन्त मधुर एवं सुलभ रीति से सहजबोध गम्य शब्दों में प्रस्तुत किया है, जो कि निम्नप्रकार है -

परिणति सब जीवन की, तीन भाँति वरनी ।

एक पाप, एक पुण्य, एक राग-हरनी ॥ टेक ॥

तामें शुभ-अशुभ अन्ध, दोय करैं कर्मबन्ध ।

वीतराग-परिणति ही, भव-समुद्र-तरनी ॥ १ ॥

जावत शुद्धोपयोग, पावत नाहीं मनोग ।

तावत ही करन जोग, कही पुण्य-करनी ॥ २ ॥

त्याग शुभ क्रियाकलाप, करो मत कदाच पाप ।

शुभ में न मगन होय, शुद्धता विसरनी ॥ ३ ॥

उच्च उच्च दशा धारि, चित्त-प्रमाद को विडारि ।

ऊँचली दशा तैं मति, गिरो अधो धरनी ॥ ४ ॥

'भागचन्द' या प्रकार, जीव लहै सुख अपार ।

याके निरधार स्याद्-वाद की उचरनी ॥ ५ ॥

इस आध्यात्मिक पद्य का अर्थ करने की जरूरत नहीं है, अर्थ सहजरूप से स्पष्ट है।

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।

स्वयमेव परिणामन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

जीव के किये हुए रागादि परिणामों का निमित्तमात्र पाकर फिर जीव से भिन्न अन्य पुद्गल स्कन्ध यहाँ (आत्मा में) अपने आप ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणामन कर जाते हैं।

-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पृष्ठ-४०

## तीसरा अधिकार

### हीयमान दुःख एवं वर्द्धमान सुख

प्रथम अधिकार में दुःख के मुख्यतः दो भेदों की जानकारी दी गई है - मिथ्यात्व या दर्शनमोहनीयजन्य दुःख और असंयम या चारित्रमोहनीय-जन्य दुःख।

मिथ्यात्वजन्य एवं अनन्तानुबन्धी कषायजन्य दुःख नियम से अनन्त ही होता है। मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी की तुलना में शेष चारित्रमोहनीयजन्य दुःख, सीमित या मर्यादित ही होता है।

चारों गतियों सम्बन्धी जो दुःख, शास्त्र में कहे गये हैं, वे मुख्यतः मिथ्यात्वजन्य दुःख ही है - ऐसा सुनिश्चित निर्णय करना चाहिए; क्योंकि सम्यक्त्वोपलब्धि के बाद मात्र चारित्रमोहनीयजन्य दुःख अल्प मात्रा में ही रह जाता है।

जीव में अशुद्धि दो प्रकार की है - पहली अशुद्धि तो श्रद्धामूलक महा-विपरीतता है, जिसे मिथ्यात्व नामक अशुद्धि के रूप में जाना जाता है।

दूसरी अशुद्धि अविरतिमूलक होती है, जिसे सामान्यतया कषाय या राग-द्वेष के रूप में जानते हैं।

प्रश्न - पहले आपने शुद्धात्मपरिणति/शुद्धात्मवृत्ति अर्थात् शुद्धपरिणति का खुलासा तो किया; तथापि शुद्धोपयोग किसे कहते हैं? यह विस्तार से नहीं बताया; इसलिए शुद्धोपयोग की परिभाषा हम जानना चाहते हैं।

उत्तर - शुद्धोपयोग की अनेक परिभाषाएँ आगम में निम्नानुसार प्राप्त होती हैं।

१. जो उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन का व्यापार परद्रव्य में अत्यन्त मध्यस्थ होता हुआ परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन न होने से शुभ तथा अशुभरूप अशुद्धोपयोग से मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करता है, वह 'शुद्धोपयोग' है।<sup>१</sup>

२. इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के अभाव तैं ज्ञान (आत्मा) ही में उपयोग लागै, ताको 'शुद्धोपयोग' कहिए; सो ही चारित्र है।<sup>२</sup>

३. 'शुद्धोपयोग', चित्त-निरोध, साम्य, स्वास्थ्य, समाधि और योग - ये सर्व शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं।<sup>३</sup>

४. व्रत-अव्रत दोनों विकल्परहित, जहाँ परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कुछ प्रयोजन नहीं है - ऐसा उदासीन वीतराग 'शुद्धोपयोग' है, वही मोक्षमार्ग है।<sup>४</sup>

इसप्रकार हम निष्कर्षरूप से कह सकते हैं कि उपयोगरूप वीतरागता को 'शुद्धोपयोग' कहते हैं।

शुद्धोपयोग के सम्बन्ध में अत्यन्त सन्तुलित और स्पष्ट भाव पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में निम्नानुसार व्यक्त किया है ह

“करणानुयोग में तो रागादिरहित शुद्धोपयोग, यथाख्यातचारित्र होने पर होता है, वह मोह के नाश से स्वयमेव होगा।

निचली अवस्थावाला (१०वें गुणस्थान तक) शुद्धोपयोग का साधन कैसे करे ? तथा द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है; इसलिए वहाँ छद्मस्थ, जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर आत्मानुभवनादि कार्यों में प्रवर्ते, उस काल में उन्हें शुद्धोपयोगी कहते हैं।

१. प्रवचनसार, गाथा १५९ की टीका

२. श्री जयचन्दजी छाबड़ा, मोक्षपाहुड गाथा, ७२ का भावार्थ।

३. पद्मनन्दि पंचविंशतिका, गाथा ६४

४. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५५

यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म रागादिक हैं; तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की; अपने बुद्धि गोचर रागादिक छोड़ता है, इस अपेक्षा से उसे (चौथे, पंचमादि गुणस्थानों में) शुद्धोपयोगी कहा है।<sup>१</sup>

“....धर्मानुरागरूप परिणाम वह शुभोपयोग, पापानुरागरूप व द्वेषरूप परिणाम वह अशुभोपयोग और राग-द्वेषरहित परिणाम वह शुद्धोपयोग – ऐसा कहा है।”<sup>२</sup>

इस अधिकार में हीयमान अर्थात् घटते हुए दुःख एवं वर्धमान अर्थात् बढ़ते हुए सुख का कथन करने का हमारा मानस है।

जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होते ही आकाश की अनन्तता के समान जो अनादि काल से अनन्त दुःख होता है, वह नियम से सीमित हो जाता है।

अब, सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाने के कारण दुःख में अनन्तता होने का प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषायजन्य राग-द्वेष ही महादुःख या अनन्तदुःख का प्रदाता होता है; लेकिन अब वह नहीं रहा।

अब, दुःख तो नियम से घटता-घटता ही जाएगा। इसका फलितार्थ यह समझना चाहिए कि प्रगट निराकुल सुख नियम से बढ़ता ही जाएगा।

दुःख घटता जाए और सुख नहीं बढ़े – यह तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि दुःख के घटने और सुख के बढ़ने में व्याप्तिरूप अविनाभाव सम्बन्ध है।

प्रश्न – कल्पातीत स्वर्गों के नव अनुदिश से लेकर पंच अनुत्तर विमानों में ३२-३३ सागरोपम काल पर्यन्त मात्र सम्यग्दृष्टि जीव ही रहते हैं तो उस काल में भी सुख बढ़ता जाता है क्या?

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २८६

२. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २८५

उत्तर – हाँ, वहाँ सागरोपम काल में भी सुख तो बढ़ता ही रहता है – यह नियम है; तथापि भूमिका के अनुसार ही बढ़ता है।

इतना ही नहीं मनुष्य, तिर्यच तथा नारकी जीवों के भी दीर्घकालीन जीवन में चौथा गुणस्थान रहने पर भी यथायोग्य सुख तो बढ़ता ही है।

अष्टपाहुड़ के चारित्रपाहुड़ की गाथा २० में आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्वयं सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वाचरणचारित्र के प्रभाव से होने वाली निर्जरा का वर्णन करते हुए लिखते हैं – सम्यग्दृष्टि को संख्यातगुणी और असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है। भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने लिखा है कि – “इस सम्यक्त्व का आचरण होने पर प्रथम काल अर्थात् प्रारम्भ में तो गुणश्रेणी निर्जरा होती है, वह असंख्यात के गुणाकाररूप है। बाद में जब तक संयम का आचरण नहीं होता, तब तक गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती है। वहाँ संख्यात के गुणाकाररूप होती है; इसलिए संख्यातगुणा और असंख्यातगुणा – इसप्रकार दोनों वचन कहे।”<sup>१</sup>

प्रश्न – साधकदशा में उपरिम अवस्था अर्थात् उपरिम गुणस्थान की प्राप्ति हुए बिना भी सुख कैसे बढ़ेगा?

उत्तर – यहाँ हमें यह विचार करना है कि यदि विशेष दीर्घकाल पर्यन्त चौथा ही गुणस्थान रहेगा तो उस काल में उस मोक्षमार्गी जीव को संवर-निर्जरा तो होते ही रहेंगे; इसकारण यह स्वाभाविक ही है कि उसमें कुछ शुद्धता की वृद्धि भी होती ही जाएगी।

मोक्षमार्ग में पूर्वबद्ध अप्रत्याख्यानावरणादि तीन कषाय-चौकड़ी रूप चारित्रमोहनीयकर्म का उदय भी सहज ही मन्द, मन्दतर तथा मन्दतम रहने के कारण चौथा गुणस्थान होने पर भी शुद्धपरिणति में अधिकता होती ही रहती है।

१. अष्टपाहुड़, चारित्रपाहुड़, गाथा २० का भावार्थ, पृष्ठ-८३

इसका अर्थ भूमिका के अनुसार वीतरागता, धर्म/शुद्धपरिणति बढ़ेगी तो सुख क्यों नहीं बढ़ेगा? मोक्षमार्गी जीव का अतीन्द्रिय सुख, व्यक्त वीतराग परिणाम के आधार पर अवलम्बित है।

प्रश्न – यद्यपि थोड़ा-सा समाधान तो हुआ, तथापि पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ; अतः हमें किसी व्यक्ति-विशेष या उदाहरण के माध्यम से समझाइए।

उत्तर – ठीक है; दृष्टान्त के माध्यम से इस विषय को सरल करते हैं –

जैसे, किसी काम के लिए हमें दो इंच चौड़ाई वाले मजबूत तथा मोटे रस्से को काटना है। काटने के लिए हमारे पास न छुरी है, न कैंची है, न चाकू है। हमारे पास साधारण दाढ़ी बनाने का ब्लेड है, वह भी आधा और थोड़ा जंग लगा हुआ है। यद्यपि काटने के अच्छे साधन प्राप्त करने के बहुत प्रयास किए; तथापि सब प्रयत्न विफल हुए।

क्या करें? दूसरा उपाय ही नहीं है। जंग लगे हुए आधे ब्लेड से ही काम चलाना है।

अब मैं आपसे पूछता हूँ – ‘उस जंग लगे हुए आधे ब्लेड से वह विशेष मजबूत रस्सा कटेगा या नहीं?’

आप कहोगे – ‘कैसे कटेगा? – बहुत देर लगेगी, इसके लिए लगन के साथ प्रयत्न करना बहुत आवश्यक होगा।’

हमने आपकी बात मान ली कि अधिक देर लगेगी, कष्ट बहुत होगा; तथापि रस्सा कटेगा तो सही।

इसीप्रकार चौथे गुणस्थानवर्ती साधक जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए अति-अति तीव्र स्वरूपलक्षी भावना अर्थात् पुरुषार्थ करना अनिवार्य होगा।

चक्रवर्ती भरत को भी चौथे गुणस्थान में रहते हुए निज शुद्धात्मा का आश्रय लेकर ध्यानरूप विशेष पुरुषार्थ करना पड़ा। तदनन्तर अन्त

में उन्होंने मुनिपना का स्वीकार किया और अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट कर लिया – यह तो आप जानते ही होंगे।

मुनिराज बनने के कारण ही धर्म/वीतरागता अकस्मात् ही बढ़ गई और वीतरागता/धर्म पूर्ण होने के कारण केवलज्ञान हो गया – ऐसा समझना भी पूर्ण सत्य नहीं है। चक्रवर्तित्व की अवस्था में भी यथाशक्य पुरुषार्थ किया ही है – यह स्वीकारना भी आवश्यक है। अतः कहा भी जाता है – ‘भरतजी! घर में ही वैरागी।’

चक्रवर्ती भरत ने चक्रवर्ती रहते हुए भी सम्पूर्ण चक्रवर्तित्व के काल में वैराग्य भावना का निरन्तर पोषण करते हुए अप्रत्याख्यानावरणादि तीन कषाय चौकड़ी की शक्ति को क्षीण करने का महत्त्वपूर्ण काम तो कर ही लिया था – इस विषय को स्वीकारना अत्यन्त आवश्यक है।

चक्रवर्तित्व की अवस्था में रहते हुए भी उनकी अन्तरंग वीतरागता-पोषक विशुद्धि भी भूमिका के अनुसार ही सही, बढ़ती तो गयी ही थी – यह हमें स्वीकारना आवश्यक है।

प्रश्न – आपने अविरत सम्यग्दृष्टि को जंग लगा हुआ आधा ब्लेड कहा – यह हमें अच्छा नहीं लगा। मात्र ब्लेड कहते तो चलता, आधा ब्लेड कहते तो भी ठीक था; लेकिन जंग लगा हुआ आधा ब्लेड कहा – इतना कठोर क्यों होते हो?

उत्तर – भाईसाहब! आपकी दृष्टि मूल विषय को समझने की होनी चाहिए। आप उदाहरण को लेकर बैठ गये – यह तो ठीक नहीं है। मूल विषय को समझने का प्रयास आवश्यक है।

यह जीव, अविरत सम्यग्दृष्टि होने के कारण कम शक्तिवान है; अतः हमने उसके ब्लेड को आधा कहा और अभी जीवन में पाँच पापरूप परिणाम भी हो रहे हैं, धन्धे-पानी में लगा है, असंयमी/

अविरत है, घर-बार छोड़ा नहीं, बाल-बच्चों को सम्भालने में लगा है; इसलिए उसके आधे ब्लेड को भी जंग लगा हुआ कहा।

आपको यह सोचना चाहिए था कि ऐसी मोटी बड़ी रस्सी को काटने के समान उसने अनन्त संसार को सान्त तो किया ही है; साथ ही साथ उसके यथाशक्ति चारित्रमोहनीयकर्म को क्षीण-क्षीणतर-क्षीणतम करने का अखण्डरूप से प्रयास चल ही रहा है। यह कितना महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है - यह तो देखो।

भले शक्ति कम हो तो क्या बिगड़ा? बहुत बड़ा काम कर रहा है। अभी तो मोक्षमार्ग में आया है। प्रारम्भ में कार्य थोड़ा-थोड़ा ही होता है तो भी कुछ निराश होने की आवश्यकता नहीं; कुछ बिगड़ा नहीं, सुधर रहा है। जंग चली जाएगी तो व्रती श्रावक बनेगा, पाँचवाँ गुणस्थान होगा, चिन्ता नहीं करना। कभी भी नाम को लेकर प्रभावित नहीं होना, काम को देखने की कार्यैकदृष्टि चाहिए। किसी भी क्षेत्र में विकास तो क्रम से ही होता है ना!

प्रश्न - आप तो हमेशा शुद्धपरिणति/वीतरागता के बढ़ते रहने की ही बात समझाते हो। हम यह भी जानना चाहते हैं कि क्या कभी शुद्धपरिणति घटती भी है क्या? कदाचित् नष्ट भी होती है। उसकी तो आप चर्चा ही नहीं करते। आप सत्य का ज्ञान क्यों नहीं कराते?

उत्तर - आपका कहना सही है। हम यहाँ वास्तविकता को छिपाना तो नहीं चाहते, परन्तु गौण अवश्य करना चाहते हैं। आप यह समझ लें कि हमने यहाँ वर्द्धमान भाववाले जीव का उदाहरण लेकर समझाने का प्रयास किया है।

यद्यपि हमें इस बात का भी ज्ञान है कि चौथे गुणस्थान में व्यक्त वीतरागता कभी-कभी उसी गुणस्थान में रहते हुए हीन भी होती है। यदि कदाचित् वीतरागता हीन नहीं होती तो साधक (औपशमिक

सम्यग्दृष्टि) चौथे से पतित होकर सासादन या मिथ्यात्व गुणस्थान में कैसे गमन करता? अथवा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि पतित होकर तीसरे गुणस्थान अथवा मिथ्यात्व गुणस्थान में भी कैसे जाता?

इसलिए चौथे गुणस्थान की वीतरागता अपने ही गुणस्थान में रहते हुए कभी बढ़ेगी, कभी घटेगी तथा कभी नष्ट भी हो सकती है - ऐसा जानना चाहिए।

कभी कभी पुरुषार्थ इतना उग्र हो जाता है कि चौथे गुणस्थान में रहते हुए ही किसी जीव को अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना भी हो जाती है, कभी किसी जीव को क्षायिक सम्यक्त्व भी प्रगट हो जाता है। कभी कोई जीव उपरिम गुणस्थान में आरोहण कर लेता है। ऐसी धर्म की वृद्धि भी हो जाती है। इसी क्रम में मुनि अवस्था धारण करके जीव, पूर्ण वीतरागी होकर सर्वज्ञ तथा सिद्ध भगवान भी हो जाता है।

प्रश्न - आप शुद्धपरिणति के घटने अथवा नष्ट होने के विषय को छिपाना चाहते हैं - ऐसा हमें लगता है; अतः वास्तविकता क्या है?

उत्तर - यद्यपि विषय को छिपाने का भाव बिलकुल नहीं है; तथापि हम बुद्धिपूर्वक आगे-आगे बढ़ने का विकासरूप जो कार्य, ज्ञानी जीव करते हैं, उस विषय को मुख्य करना चाहते हैं; क्योंकि उत्कर्ष की चर्चा करने से ही जीव का उत्साह एवं पुरुषार्थ बढ़ता है।

देखो! पतित होने के विषय का ज्ञान तो करना चाहिए; लेकिन उसकी मुख्यता करना आवश्यक नहीं है, बल्कि गौणता आवश्यक है।

प्रश्न - अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान में व्यक्त शुद्ध-परिणति में हीनता किन-किन कारणों से होती है?

उत्तर - जब मोक्षमार्गस्थ १. सम्यग्दृष्टि जीव के क्रोधादि कषाय अथवा नोकषाय सम्बन्धी परिणाम अधिक-अधिक तीव्र होते रहते हैं तब शुद्धपरिणति में हीनता आती है। २. चक्रवर्ती, सम्राट आदि की अपेक्षा से कहें तो जब युद्ध आदि करने के परिणाम अधिक मात्रा में और



अनेक बार होते रहते हैं तो संवर-निर्जरा के परिणाम शिथिल हो जाते हैं।

३. गृहीत मिथ्यात्व के प्रसंग उपस्थित होने पर यदि परिणाम संशयग्रस्त हो जाएँ अथवा सम्यक्त्व सम्बन्धी अतिचारों की प्रबलता हो जाए तो भी यह जीव सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है।

उक्त कारणों से शुद्धपरिणति हीन-हीन होती जाती है; क्योंकि उसी समय सत्ता में स्थित अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों का उदय तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम होने का क्रम भी जारी रहता है। इसलिए शुद्धपरिणति सहज ही हीन-हीन होती जाती है। तदनुकूल द्रव्यकर्म का उदय भी रहता है।

इस विषय के सम्बन्ध में पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र में इसप्रकार कहा है -

“चारित्रमोह के उदय से रागादिक होते हैं; वहाँ तीव्र उदय हो तब तो विषयादि में प्रवर्तता है और मन्द उदय हो तब अपने पुरुषार्थ से धर्मकार्यों में व वैराग्यादि भावना में उपयोग को लगाता है; उसके निमित्त से चारित्रमोह मन्द हो जाता है - ऐसा होने पर देशचारित्र व सकलचारित्र अंगीकार करने का पुरुषार्थ प्रगट होता है।

तथा चारित्र को धारण करके अपने पुरुषार्थ से धर्म में परिणति को बढ़ाये, वहाँ विशुद्धता से कर्म की शक्ति हीन होती है, उससे विशुद्धता बढ़ती है और उससे कर्म की शक्ति अधिक हीन होती है।

इसप्रकार क्रम से मोह का नाश करे तब सर्वथा परिणाम विशुद्ध होते हैं, उनके द्वारा ज्ञानावरणादि का नाश हो, तब केवलज्ञान प्रगट होता है। पश्चात् वहाँ बिना उपाय अघातिकर्म का नाश करके शुद्ध सिद्धपद को प्राप्त करता है।

इसप्रकार उपदेश का तो निमित्त बने और अपना पुरुषार्थ करे तो कर्म का नाश होता है।”

मोक्षमार्गप्रकाशक में ही निर्जरातत्त्व का अन्यथारूप प्रकरण में भी यह विषय विशेष स्पष्टरूप से आया है -

“यहाँ कोई कहे कि शुभभावों से पाप की निर्जरा होती है, पुण्य का बन्ध होता है; परन्तु शुद्धभावों से दोनों की निर्जरा होती है - ऐसा क्यों नहीं कहते?

उत्तर - मोक्षमार्ग में स्थिति का तो घटना सभी प्रकृतियों का होता है; वहाँ पुण्य-पाप का विशेष है ही नहीं और अनुभाग का घटना, पुण्य-प्रकृतियों में शुद्धोपयोग से भी नहीं होता। ऊपर-ऊपर पुण्य-प्रकृतियों के अनुभाग का तीव्र बन्ध-उदय होता है और पापप्रकृतियों के परमाणु पलटकर शुभप्रकृतिरूप होते हैं - ऐसा संक्रमण शुभ तथा शुद्ध, दोनों भाव होने पर होता है; इसलिए पूर्वोक्त नियम सम्भव नहीं है, विशुद्धता ही के अनुसार नियम सम्भव है।

देखो! चतुर्थ गुणस्थानवाला शास्त्राभ्यास, आत्म-चिन्तवन आदि कार्य करे; वहाँ भी निर्जरा नहीं, बन्ध भी बहुत होता है और पंचम गुणस्थानवाला विषय-सेवनादि कार्य करे; वहाँ भी उसके गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है, बन्ध भी थोड़ा होता है।

तथा पंचम गुणस्थानवाला उपवासादि या प्रायश्चित्तादि तप करे उस काल में भी उसके निर्जरा थोड़ी होती है तथा छठवें गुणस्थानवाला आहार-विहारादि क्रिया करे; उस काल में भी उसके निर्जरा बहुत होती है तथा बन्ध उससे भी थोड़ा होता है।”

प्रश्न - सम्यक्त्व छूटकर हीन गुणस्थानों में पतित होने का कार्य कैसे होता है?

उत्तर - यदि शुद्धपरिणति की हीनता बढ़ती जाती है और सम्यग्दर्शन का मूल विषय निजशुद्धात्मा का श्रद्धान छूट जाता है तो जीव, सम्यग्दर्शन से पतित हो जाता है।

यहाँ मिथ्यात्वकर्म का उदय भी सहज हो जाता है। मिथ्यात्वकर्म के उदय ने जीव को मिथ्यादृष्टि बनाया – ऐसा सोचना तो विपरीत विचार है।

मिथ्यात्वकर्म का उदय और मिथ्यात्वरूप जीव का भाव – इन दोनों का समकाल रहता है; इसे ही काल-प्रत्यासत्ति कहते हैं। इसकी पुष्टि करने के लिए हम समयसार की निम्न गाथा को अर्थसहित प्रस्तुत कर रहे हैं –

“अण्णाणस्स स उदओ, जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।  
मिच्छत्तस्स दु उदओ, जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥<sup>१</sup>  
निजतत्त्व का अज्ञान ही, बस उदय है अज्ञान का ।  
निजतत्त्व का अश्रद्धान ही, बस उदय है मिथ्यात्व का ॥<sup>२</sup>

अर्थात् जीवों के जो अतत्त्व की उपलब्धि है, तत्त्व-सम्बन्धी अज्ञान है, वह अज्ञान का उदय है और जो तत्त्व का अश्रद्धान है, वह मिथ्यात्व का उदय है।’

ध्यान रहे कि मिथ्यात्वकर्म ने जीव को बलात् मिथ्यादृष्टि बनाया है – ऐसा विचार वस्तुस्वरूप से विपरीत है।

जब तक जीव, विकार में कर्म को महत्त्व देगा अर्थात् कर्म को विकार का कर्ता-धर्ता मानेगा; तब तक जीव धर्मक्षेत्र में प्रवेश के लिए भी पात्र नहीं है – ऐसा निर्णय करना आवश्यक है।

समयसार की आत्मख्याति टीका के कलशरूप काव्य में आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा है –

“रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।  
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं, शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥<sup>३</sup>

१. समयसार, गाथा १३२

२. डॉ. भारिल्ल कृत पद्यानुवाद

३. समयसार, कलश २२१

( रोला )

अरे राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को।

एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी ॥

शुद्धबोध से विरहित वे अन्धे-जन जग में।

अरे! कभी भी मोह-नदी से पार न होंगे? ॥

अर्थात् जो लोग राग की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही मूल कारण मानते हैं अर्थात् परद्रव्य के निमित्त से ही राग उत्पन्न होता है – ऐसा मानते हैं; वे शुद्धज्ञान से रहित अन्ध-बुद्धि लोग मोह-नदी को पार नहीं कर सकते।”

प्रश्न – अविरत सम्यक्त्वी, जब देशविरत नामक पंचम गुणस्थान में जाता है, तब शुद्धपरिणति का क्या स्वरूप होता है?

उत्तर – अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय-चौकड़ी का उदयाभावरूप अभाव होने से व्यक्त यथायोग्य वीतरागतारूप धर्मभाव/सुखरूप परिणाम व्यक्त रहता है, यह शुद्धपरिणति, चौथे गुणस्थान में हमने जान ली है।

अब चौथे से आगे का गुणस्थान देशविरत श्रावक का है। यहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय-चौकड़ी एवं अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चौकड़ी – इसतरह दो कषाय चौकड़ी के उदयाभावपूर्वक देशविरत गुणस्थान में शुद्धपरिणति सदा व्यक्त रहती है। वह श्रावक, चाहे अणुव्रतादि के पालन के परिणामों में संलग्न हो अथवा गृहस्थोचित पाप कार्यों में मग्नरूप दिखता हो।

प्रतिमा की अपेक्षा वैसे देशविरत गुणस्थान के ग्यारह भेद हैं। प्रत्येक प्रतिमा में सामान्यतया अनन्तानुबन्धी कषाय-चौकड़ी एवं अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चौकड़ी – इस तरह दो कषाय-चौकड़ियों का उदयाभावरूप अभाव तो रहता ही है।

१. डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्लकृत पद्यानुवाद।

इस देशविरत गुणस्थान के जितने भेद हैं, उतने भेद किसी भी अन्य गुणस्थान के नहीं हैं। पहली दर्शन प्रतिमा, जिसमें शंकादि पच्चीस मल-दोषों से रहित पाँच अणुव्रतों का सातिचार अभ्यासरूप से पालन होता है।

इसीप्रकार अन्तिम ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है; लेकिन इन सभी प्रतिमाओं में दो ही कषाय-चौकड़ी के अभावपूर्वक ही वीतरागता व्यक्त रहती है। इस गुणस्थान के योग्य प्रतिमाओं के अनुरूप बढ़ती हुई व्यक्त वीतरागता को ही शुद्धपरिणति कहते हैं।

यहाँ एक विशिष्ट जाति का मर्म भी हमें अवश्य समझना चाहिए कि यद्यपि पहली प्रतिमा से ऊपर प्रत्येक प्रतिमा में कुछ न कुछ वीतरागता बढ़ती जाती है; तथापि वीतरागता/शुद्धपरिणति की मर्यादा तो दो कषाय-चौकड़ी के उदयाभावपूर्वक ही रहती है।

**प्रश्न - आप देशविरत की शुद्धपरिणति में अभाव तो दो कषाय चौकड़ी का ही कह रहे हो और साथ ही उसको वर्द्धमान भी मानते हो, यह कैसे सम्भव है?**

**उत्तर -** जैसा स्वरूप है, वैसा ही तो हमें कहना चाहिए। अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान के भेद न होने पर भी वहाँ एक ही कषाय-चौकड़ी के अभावरूप व्यक्त वीतरागता में भी परिणाम के अनुसार हीनाधिकता का स्वीकार हमने किया ही है, जो न्यायोचित है। बल्कि यहाँ तो देशविरत गुणस्थान के ग्यारह प्रतिमा के कारण शास्त्रोक्त ग्यारह भेद भी माने गये हैं।

अतः यदि ग्यारह प्रतिमाओं में व्यक्त वीतरागता अर्थात् शुद्धपरिणति एक समान ही हो तो देशविरत गुणस्थान के ग्यारह भेद कैसे होंगे? इसलिए यहाँ प्रत्येक प्रतिमा में भी परिणाम के अनुसार भेद होते हैं।

जैसे ग्यारहवीं प्रतिमा का सामान्यतया नाम तो उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है। उसके दो भेद प्रसिद्ध हैं - १. क्षुल्लक और २. ऐलक।

**प्रश्न - क्षुल्लक-ऐलक भेद तो उपयोग में आनेवाले कपड़ों के कारण किये गये भेद हैं। जैसे, यदि उनके साथ एक लंगोट और एक चादर है तो वे क्षुल्लक कहलाते हैं और मात्र एक लंगोट ही हो तो ऐलक कहलाते हैं - क्या ऐसा ही स्वरूप है?**

**उत्तर -** यहाँ राग का त्याग और आगे-आगे की प्रतिमा में वीतरागता की वृद्धि मुख्य है। जैसे आप सोच रहे हैं, वैसे मात्र कपड़े के कारण ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद नहीं हैं। जिनधर्म में मात्र कपड़े आदि के त्याग अथवा खान-पान के त्याग से ही धर्म को छोटा-बड़ा नहीं माना जाता है।

यहाँ तो जीव के वीतराग परिणामों की हीनाधिकता के अनुसार ही धर्म में हीनाधिकता मानी और कही जाती है।

पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है -

“तत्त्वज्ञान के अभ्यास व वैराग्य भावना द्वारा परिणाम सुधारें तो वहाँ परिणाम के अनुसार बाह्य क्रिया भी सुधर जाती है। परिणाम सुधारने पर बाह्य क्रिया सुधरती ही है; इसलिए श्री गुरु परिणाम सुधारने का मुख्य उपदेश देते हैं।”<sup>१</sup>

परिणामों में सुधार और बाह्य त्याग की क्रिया - इनमें अद्भुत निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे, पंचम गुणस्थान के योग्य परिणामों में सुधार होने पर, तीव्र कषाय में परिवर्तन अर्थात् कषायों की मन्दता होते ही जीव का रात्रि-भोजन छूट जाता है, अभक्ष्य-भक्षण का भी त्याग हो जाता है।

पूर्व में चतुर्थ गुणस्थान में आत्मानुभव होने पर पहले स्तर की अर्थात्

सम्यग्दर्शन के साथ की आंशिक वीतरागता व्यक्त होते ही अन्याय, अनीति एवं अभक्ष्य का त्याग जीवन में सहज आता है। वैराग्य परिणामों की उत्पत्ति भी सम्यग्दर्शन के साथ ही सहजरूप से व्यक्त होती है।

इस विषय को आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश में विशदरूप से स्पष्ट किया है, जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रान्ता)

“सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं, ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः  
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं, स्वाऽन्यरूपाऽऽप्ति-मुक्त्या ।  
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं, तत्त्वतः स्वं परं च  
स्वस्मिन्नाऽऽस्ते विरमति परात्सर्वतो राग-योगात् ॥<sup>१</sup>

(हरिगीत)

निजभाव को निज जान, अपनापन करें जो आतमा ।  
परभाव से हो भिन्न नित, निज में रमें जो आतमा ॥  
वे आतमा सदृष्टि उनके, ज्ञान अर वैराग्य बल ।  
हो नियम से - यह जानिये, पहिचानिये निज आत्मबल ॥<sup>२</sup>

अर्थात् सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है, क्योंकि वह स्व के ग्रहण और पर के त्याग करने की विधि द्वारा स्वयं के वस्तुत्व (यथार्थ स्वरूप) का अभ्यास करने के लिए 'यह स्व है और यह पर है' - इसप्रकार के भेद को परमार्थ से जानकर, स्व में स्थिर होता है और पर से अर्थात् राग के योग से सम्पूर्णतः विराम लेता है।

इस कलश में यह कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यग्ज्ञान और भूमिकानुसार वैराग्य अवश्य होता है, क्योंकि श्रद्धागुण के सम्यक् परिणामन के साथ ही ज्ञान का परिणामन भी सम्यक् हो जाता है और आत्मानुभूतिपूर्वक होनेवाले चतुर्थ गुणस्थान में ही अनन्तानुबन्धी कषाय

का अभाव हो जाने से तत्सम्बन्धी राग-द्वेष का भी अभाव हो जाता है; इसकारण तत्सम्बन्धी वैराग्य भी हो जाता है। यही कारण है कि यहाँ कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्यशक्ति नियम से होती ही है।<sup>३</sup>

पंचम देशविरत गुणस्थान में स्वाभाविकरूप से वीतरागता बढ़ जाने से खान-पान में त्याग का कार्य और विशेष प्रारम्भ हो जाता है और आनन्द भी वृद्धिगत होता है। गृहस्थोचित आरम्भादि कार्य भी विशेष विचारपूर्वक होने लगते हैं। इस अवस्था को समाज भी समझने लगता है।

इसप्रकार जब ज्ञान-वैराग्य परिणाम में और अधिक विकास होता है तो आत्मिक आनन्द/सुख तो बढ़ता ही बढ़ता है; बाह्य त्याग भी पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है। वह जीव, शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का अंगीकार करता है और तीन कषाय-चौकड़ी का उदयाभाव होने से सप्तम गुणस्थान के योग्य प्रचुर स्व-संवेदनरूप शुद्धोपयोग की प्राप्ति कर लेता है और फिर विकल्प की दशा में छठवें गुणस्थान के योग्य शुभाचरणरूप परिणामों को प्राप्त होता है, फिर भी शुद्धपरिणति बनी ही रहती है। इसी तरह आगे के गुणस्थानों में शुद्धपरिणति/शुद्धोपयोग बढ़ता ही जाता है और सुख/आनन्द में और-और अधिकता आती है।

बाह्य आरम्भ-परिग्रह का त्याग बढ़ता जाता है और उसके साथ धर्म भी वृद्धिगत होता है - ऐसा व्यवहारनय से कहते हैं।

वास्तविकता तो यह है कि जैसे-जैसे परिणामों में विशेष शुद्धता आती जाती है, वैसे-वैसे बाह्य त्याग विशेष होता जाता है।

इसीप्रकार देशविरत गुणस्थान के शुद्धपरिणति सम्बन्धी विषय को

विशेष विस्तार के साथ जानना चाहिए, क्योंकि इस गुणस्थान के ग्यारह प्रतिमा रूप ग्यारह भेद हैं।

गुणस्थानों में जैसा गमनागमन होता है, वैसा ही इन प्रतिमाओं के योग्य अन्तरंग परिणामों में भी गमनागमन हो सकता है; अतः इन सबका यथायोग्य विचार स्वतः ही करना योग्य है।

ग्यारह प्रतिमाओं के सम्बन्ध में विस्तार-भय से अधिक लिखना सम्भव नहीं है। अधिक जानकारी के लिए सागारधर्मा मृत शास्त्र का ७वाँ अध्याय, अन्य श्रावकाचार के ग्रन्थ एवं तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१ देखें।

पण्डित श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के आठवें अध्याय में 'करणानुयोग के व्याख्यान का विधान' में लिखा है -

“जीव के भावों की अपेक्षा गुणस्थान कहे हैं, वे भाव अनन्त-स्वरूप सहित वचनगोचर नहीं हैं, वहाँ बहुत भावों की एक जाति करके चौदह गुणस्थान कहे हैं।”<sup>१</sup>

यहाँ इस विशिष्ट विषय का संकेत मात्र करने का प्रयास किया है। समझदार पाठकों को मात्र इशारा ही पर्याप्त रहता है; अतः अन्य साधर्मियों से चर्चा करके आप भी विषय को विस्तार के साथ समझने का प्रयास अवश्य करेंगे - ऐसा विश्वास है।



## चौथा अधिकार

### प्रमत्ताप्रमत्त में शुद्धाशुद्धपरिणति

प्रमत्त शब्द का प्रयोग सामान्यरूप से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से छोटे प्रमत्तविरत गुणस्थान पर्यन्त तथा 'अप्रमत्त' शब्द का प्रयोग सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान से चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान पर्यन्त के सब जीवों के लिए किया जाता है।

यहाँ 'प्रमत्त-अप्रमत्त' शब्द का प्रयोग, मात्र छोटे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के लिए ही किया जा रहा है।

प्रश्न :- प्रमत्ताप्रमत्त अर्थात् छोटे-सातवें गुणस्थान में सतत् झूलनेवाले महामुनिराजों की शुद्धपरिणति तथा शुद्धोपयोग के मध्य किस प्रकार का सम्बन्ध है?

उत्तर :- शुद्धोपयोग एवं शुद्धपरिणति में परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध है। प्रारम्भ में शुद्धोपयोगपूर्वक शुद्धपरिणति प्रगट होती है अतः उस गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग कारण है और शुद्धपरिणति कार्य है। पश्चात् उस गुणस्थान में रहते हुए वह शुद्धपरिणति कारण और शुद्धोपयोग कार्य हो जाता है। इसप्रकार अधिक समय पर्यन्त झूलते हुए शुद्धोपयोग कारण और शुद्धपरिणति की वृद्धिरूप कार्य - ऐसा भी होता रहता है। इस कारण उनकी शुद्धपरिणति भी पहले की अपेक्षा बढ़ती रहती है।

दिव्यध्वनि के सारस्वरूप प्रवचनसार परमागम में आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने - २१५ से २१९ पर्यन्त की गाथाओं में एवं आचार्य अमृतचन्द्र ने इन गाथाओं की तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका

तथा आचार्य श्री जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका में प्रमत्ताप्रमत्त अवस्था का विस्तृत विवेचन किया है। यह विवेचन अत्यन्त मार्मिक है, मधुर शब्दों में विषय का प्रतिपादन करता है और अन्यत्र जिनवाणी में कहीं भी ऐसा कथन सामान्यतया उपलब्ध नहीं है; अतः इन तीनों आचार्य भगवन्तों के अभिप्राय को हम आगे दे रहे हैं।

इस विषय के प्रतिपादन में हमने क्रम रखा है - प्रथम तो आचार्य श्री कुन्दकुन्द की प्राकृत गाथा, तदनन्तर डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत गाथा का पद्यानुवाद (हरिगीत) एवं गद्यानुवाद तथा उसके बाद आचार्य श्री अमृतचन्द्र की टीका का अनुवाद और अन्त में आचार्य श्री जयसेन की टीका का अनुवाद दिया जा रहा है।

साथ ही आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विषय को जनसामान्य को सहजरूप से समझ में आवे इस अभिप्राय से २०वीं सदी के आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों में कुछ अनमोल वचन (दिव्यध्वनिसार से संगृहीत) भी दे रहे हैं, जिससे अनभ्यासी पाठक भी प्रमत्ताप्रमत्त मुनिराज का स्वरूप आनन्द के साथ यथार्थ समझ सकें।

प्रवचनसार की मूल गाथाएँ इसप्रकार है -

“भक्ते वा खमणे वा, आवसधे वा पुणो विहारे वा।  
उवधिम्हि वा णिबद्धं, णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥२१५॥  
अपयत्ता वा चरिया, सयणासणठाणचंकादीसु।  
समणस्स सव्वकाले, हिंसा सा संतय त्ति मदा ॥२१६॥

(हरिगीत)

आवास में उपवास में, आहार विकथा उपधि में।  
श्रमणजन व विहार में, प्रतिबन्ध न चाहें श्रमण ॥  
शयन आसन खड़े रहना, गमन आदिक क्रिया में।  
यदि अयत्नाचार है तो, सदा हिंसा जानना ॥

अर्थात् मुनिराज आहार में, विहार में, आवास में, उपवास में, उपधि

(परिग्रह) में, अन्य मुनिराजों में अथवा विकथा में प्रतिबन्ध (प्रतिबद्धता) नहीं चाहते।

अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि प्रवचनसार गाथा २१५-२१६ एवं उसकी टीकाएँ अत्यन्त निकट के सूक्ष्म परद्रव्य का प्रतिबन्ध भी मुनिपने के छेद का आयतन होने से हेय ही है।

मुनिराजों की; शयन, आसन, खड़े रहने और गमन आदि में असावधानीपूर्वक की गई चर्या, सदा/सतत् हिंसा मानी गई है।<sup>१</sup>

तत्त्वप्रदीपिका का अंश - वस्तुतः अशुद्धोपयोग छेद है, क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन होता है। वह अशुद्धोपयोग ही हिंसा है; क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हनन होता है।

इसलिए अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होनेवाली शयन, आसन, स्थान और गमन आदि क्रियाओं में असावधानीपूर्वक आचरण सदा धारावाही हिंसा है; जो छेद से अनन्य ही है, छेदरूप ही है, छेद से भिन्न नहीं।<sup>२</sup>

तात्पर्यवृत्ति का अंश - आगम में बताई गई विधि के विरुद्ध आहार-विहारादि तो पहले से ही निषिद्ध है; यहाँ तो यह कह रहे हैं कि योग्य आहार-विहारादि में भी ममत्व नहीं करना चाहिए।

मुनिराजों द्वारा बाह्य व्यापारादि शत्रुओं को तो पहले ही छोड़ दिया गया है; किन्तु भोजन, शयन आदि व्यापार छोड़ना सम्भव नहीं है। इसलिए अंतरंग क्रोधादि शत्रुओं के निग्रह के लिए, उनके सन्दर्भ में भी क्लेश नहीं करना चाहिए।<sup>३</sup>

दिव्यध्वनिसार का अंश -

१. “बोध्य वह है, जिसे समझाया जाता है अर्थात् जिसे उपदेश दिया जाता है और बोधक वह है, जो समझाता है अर्थात् जो

१. प्रवचनसार गाथा २१५-२१६ का सरलार्थ।

२. आचार्य अमृतचन्द्रकृत संस्कृत टीका का अनुवाद, ज्ञानज्ञेयप्रबोधिनी टीका, पृष्ठ ४१५

३. आचार्य जयसेनकृत टीका का हिन्दी अनुवाद

- उपदेश देता है। मात्र अन्य श्रमणों से स्वयं बोध ग्रहण करने के लिए अथवा अन्य श्रमणों को बोध देने के लिए ही मुनि का अन्य श्रमण के साथ परिचय होता है।
२. यहाँ छद्मस्थ मुनि धार्मिक कथा-वार्ता करने पर निर्मल रहते हुए भी विकल्पयुक्त होते हैं, इसलिए अंशतः मलिन हैं; अतः उस धार्मिक कथा को भी विकथा अर्थात् शुद्धात्मद्रव्य से विरुद्ध कथा कहा है।
  ३. अन्तर में चैतन्य-लीनता होने पर ही उपयोग स्थिर होता है; अतः बाह्य में वस्त्रादि के अवलम्बन की वृत्ति नहीं रहती।
  ४. उन्हें अन्तरस्वरूप का जोर छूटकर आहार की वृत्ति नहीं उठती ह ऐसी उग्र मुनिदशा होती है।
  ५. वे आहार की वृत्ति छोड़कर स्वरूप में ठहरते हैं, यही उनका आनन्द है, विश्राम है; परन्तु आहार नहीं होता तो इसका उन्हें खेद नहीं वर्तता।
  ६. स्वभाव में लीन होकर वे राग की थकावट दूर करते हैं और अन्तर में अविकारी परिणति की रचना करते हैं।
  ७. श्रामण्य पर्याय का सहचारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं है - ऐसा देहमात्र परिग्रह ही मुनिराज को होता है; किन्तु उसमें भी ममत्व नहीं होता है। यहाँ कमण्डलु और मयूरपिच्छी भी गौण है।
  ८. शुभ रागादि के विकल्पों को तोड़कर वे मुनिराज शुद्धस्वभाव में ही रमण करने के लिए ही अग्रसर होते हैं।
  ९. अन्तर स्वभाव में जो शुभ विकल्प उठते हैं, वे भी परमार्थ से हिंसा ही हैं; किन्तु यहाँ उसे हिंसा नहीं कहा, क्योंकि इन शुभ विकल्पों से छठे गुणस्थान में कोई हानि नहीं होती है।
  १०. जिसप्रकार कोई वैद्य, किसी रोगी को बीमारी मिटाने के लिए मुरब्बा

या दवा खाने के लिए कहे और स्वादलोलुपी जीव उसका ही सेवन करता रहे तो उल्टा नुकसान होता है; उसीप्रकार निर्विकल्प मुनिदशा में जबतक अन्तर-स्थिरता न हो, तबतक उत्पन्न होनेवाले शुभ विकल्प औषधि के समान हैं। यदि वे मुनिराज उन शुभ विकल्पों को ही अपना मानकर प्रमादी हो जायें तो अन्तरदशा से चूक जायेंगे। उनके चैतन्य की हिंसा हो जायेगी।

यहाँ बाह्य हिंसा की बात नहीं है; किन्तु अन्तर में जो चैतन्य के उपयोग का हनन होता है, उस हिंसा की बात है।

११. पर्याय के समक्ष अखण्ड द्रव्य स्वयं खड़ा है, उसका आश्रय लेने पर सब सहज हो जाता है।<sup>१</sup>

अब प्रवचनसार गाथा २१७ में कहते हैं कि छेद, अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है -

मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।  
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

(हरिगीत)

प्राणी मरें या ना मरें, हिंसा अयत्नाचार से ।  
तब बन्ध होता है नहीं, जब रहें यत्नाचार से ॥

अर्थात् जीव मरे या जिये, किन्तु असावधानीपूर्वक आचरण करनेवाले के हिंसा निश्चित ही है; क्योंकि सावधानीपूर्वक समितियों के पालन करनेवालों को बहिरंग द्रव्यहिंसा मात्र से बन्ध नहीं होता।

तत्त्वप्रदीपिका का अंश - बहिरंग छेद से अंतरंग छेद ही बलवान है - ऐसा होने पर भी बहिरंग छेद अंतरंग छेद का आयतन मात्र है।<sup>२</sup>

१. आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचन दिव्यध्वनिसार, भाग ५, पृष्ठ ६९ से ७२

२. प्रवचनसार, गाथा २१७ का सरलार्थ

तात्पर्यवृत्ति का अंश – अपने आत्मा में लीनतारूप निश्चय प्राणों के विनाश की कारणभूत रागादि परिणति निश्चय हिंसा है और रागादि की उत्पत्ति से बाह्य में निमित्तभूत परजीवों का घात व्यवहार हिंसा है। इसप्रकार हिंसा दो प्रकार की होती है। किन्तु विशेष यह है कि बाह्य हिंसा हो या न हो स्वस्थभावना (आत्मलीनता) रूप निश्चय प्राणों का घात होने पर निश्चय हिंसा नियम से होती है; इसलिए निश्चय हिंसा ही मुख्य है।<sup>१</sup>

दिव्यध्वनिसार का अंश –

१. “स्वभाव के आश्रय से जितनी वीतरागता प्रगट हुई है, वह निश्चय प्रयत्न है और भूमिकानुसार जो शुभ विकल्प होता है, वह व्यवहार प्रयत्न है तथा यदि भूमिका से बाहर का विकल्प उठे तो वह अप्रयत्न आचार होने से प्रमाद है; यही हिंसा है।
२. अन्तर में विद्यमान तीव्र रागभाव के कारण हिंसा है, पाप है। इसीप्रकार पर जीव का घात न हो; किन्तु अन्तर में कषायभावों की विद्यमानता हो तो वह हिंसा कहलाती है।
३. भूमिका अनुसार होनेवाले राग को स्व-परप्रकाशक ज्ञान जानता है। ज्ञान तो अपनी स्वभाव-सामर्थ्य से राग को मात्र जानता है।
४. राग को जानते हुए भी ज्ञान, अपने स्वभाव-सन्मुख ही रहता है, वह राग-सन्मुख होकर राग को नहीं जानता – यही ज्ञानगुण का स्वभाव है।
५. यदि शुद्धात्मस्वरूप में सम्यक् परिणतिरूप दशा न हो तो वहाँ वर्तनेवाली शुभ-परिणति हठसहित होती है, तब वह व्यवहार समिति नाम भी प्राप्त नहीं करती।
६. यहाँ भूमिकानुसार राग वर्तता है और भूमिका की मर्यादा से अधिक राग बढ़ जाये तो वह हिंसा है।

१. आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका का अनुवाद, ज्ञानज्ञेयप्रबोधिनी टीका पृष्ठ ४१७

७. मुनि के वस्त्रादि ग्रहण करने अथवा लौकिक कार्यों में पड़ने का रागभाव होता ही नहीं है।
८. अन्तर में राग का सद्भाव होना हिंसा है; बाह्य में पर जीवों के घात होने मात्र से हिंसा नहीं है। जैनदर्शन में तो रागभाव की उत्पत्ति को ही हिंसा कहा है।
९. छठे गुणस्थान में भूमिका योग्य राग हो तो वीतरागता टिकी रहती है, वह अहिंसाधर्म है; किन्तु शुभराग की अति हो जावे तो वह अहिंसाधर्म (व्यवहार अहिंसाधर्म भी) नहीं है।<sup>२</sup>

तात्पर्यवृत्ति का अंश – सावधानीपूर्वक गमनादि करते हुए सूक्ष्म जन्तुओं के घात हो जाने पर भी, जितने अंश में आत्मलीनतारूप परिणाम से चलनरूप रागादि परिणति लक्षण भावहिंसा है; उतने अंश में बन्ध है, पैरों के संघट्टन (रगड़ना) मात्र से बन्ध नहीं है। उन मुनिराजों के रागादि परिणति लक्षण भावहिंसा नहीं है, इसकारण बन्ध भी नहीं है।<sup>२</sup>

अब प्रवचनसार गाथा २१८ में कहते हैं कि अन्तरंग छेद ही सर्वथा त्यागने योग्य हैं –

अयदाचारो समणो, छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो ।  
चरदि जदं जदि णिच्चं, कमलं व जले णिरुवलेवो ॥

(हरिगीत)

जलकमलवत निर्लेप, हैं जो रहें यत्नाचार से ।  
पर अयत्नाचारि तो, षट्काय का हिंसक कहा ॥

अर्थात् असावधानीपूर्वक आचरण करनेवाले श्रमण, छहों काय सम्बन्धी जीवों का वध करनेवाले माने गये हैं और यदि वे सदा

१. दिव्यध्वनिसार, भाग ५, पृष्ठ ६९-९३

२. आचार्य श्रीजयसेन द्वारा अतिरिक्त गाथा क्रमांक १५-१६ ज्ञानज्ञेयप्रबोधिनी टीका, पृष्ठ-४१८



सावधानीपूर्वक आचरण करते हैं तो जल में कमल की भाँति निर्लेप कहे गये हैं।<sup>१</sup>

**तत्त्वप्रदीपिका का अंश** – पर के आश्रय से होनेवाले बन्ध का अभाव होने से जल में रहते हुए कमल की भाँति निर्लेपता (अबन्ध) की प्रसिद्धि है। इसलिए जिन-जिन प्रकारों से अन्तरंग छेद का आयतनभूत पर-प्राण-व्यपरोपणरूप बहिरंग छेद अत्यन्त निषेध्य है; उन-उन सभी प्रकारों से अशुद्धोपयोगरूप अन्तरंग छेद भी पूर्णतः निषेध्य है, त्यागने योग्य है।<sup>२</sup>

**दिव्यध्वनिसार का अंश** – यदि कोई जीव मुनिदशा का पालन नहीं कर सके तो जैनदर्शन में उस जीव को कोई दण्ड नहीं है; किन्तु उक्त दशा के विपरीत मुनिपना माने तो अवश्य दण्ड है, उसकी तो श्रद्धा ही मिथ्या है।<sup>३</sup>

अब प्रवचनसार गाथा २१९ में परिग्रह सम्बन्धी अन्तरंग छेद का निषेध करते हैं –

हवदि व ण हवदि बंधो, मदम्हि जीवेऽध कायचेट्टम्हि ।

बंधो धुवमुवधीदो, इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥

(हरिगीत)

बन्ध हो या न भी हो, जिय मरे तन की क्रिया से।

पर परिग्रह से बन्ध हो, बस उसे छोड़े श्रमणजन ॥

अर्थात् कायचेष्टापूर्वक जीवों के मरने पर बन्ध हो अथवा नहीं भी हो; किन्तु उपधि अर्थात् परिग्रह से तो बंध होता ही है; इसलिए श्रमणों, अरहंतदेवों ने सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़ा है।

१. प्रवचनसार गाथा २१८

२. आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका का अनुवाद, ज्ञानज्ञेयप्रबोधिनी टीका, पृष्ठ ४१९

३. दिव्यध्वनिसार, भाग ५, पृष्ठ ८७

**तत्त्वप्रदीपिका का अंश** – जिसप्रकार काय व्यापारपूर्वक परजीवों के घात को अशुद्धोपयोग के सद्भाव और असद्भाव के द्वारा अनैतिक बन्धरूप होने से छेदपना अनेकान्तिक (अनिश्चित – हो भी और न भी हो – ऐसा) माना गया है; उसप्रकार की बात परिग्रह के साथ नहीं है; क्योंकि परिग्रह अशुद्धोपयोग के बिना सर्वथा नहीं होता। परिग्रह का अशुद्धोपयोग के साथ सर्वथा अविनाभावत्व होने से ऐकान्तिक (नियम से, अवश्यंभावी) अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह तो ऐकान्तिक (नियम से) बन्धरूप है। इसलिए परिग्रह को छेदपना भी ऐकान्तिक (अनिवार्य) ही है।

यही कारण है कि परम श्रमण अरहंत भगवन्तों ने पहले से ही स्वयं परिग्रह को छोड़ा है। इसलिए दूसरे श्रमणों को भी अंतरंग छेद के समान समस्त परिग्रह छोड़ना योग्य है; क्योंकि परिग्रह अंतरंग छेद के बिना नहीं होता।<sup>१</sup>

**दिव्यध्वनिसार का अंश** –

१. “शरीर की किसी भी चेष्टा से पर-प्राणियों का घात हो, वहाँ मुनिराज को प्रमादभाव नहीं हो तो कोई दोष नहीं लगता; किन्तु तीव्र राग होने से तत्सम्बन्धी दोष अवश्य है।
२. वस्त्रादि परिग्रह की उपस्थिति ही अन्तर में विद्यमान ममत्वभाव को स्पष्ट करती है, इससे जीव को बन्ध होता ही है, इसलिए योगियों ने समस्त परिग्रह को छोड़ दिया है।
३. बाह्य में परजीवों की हिंसा से मुनिराज को बन्धन हो अथवा न भी हो, यह कोई एकान्त नियम नहीं है; किन्तु प्रमादभाव है तो बन्ध अवश्य है और अन्तर में प्रमादभाव नहीं है तो बन्ध भी नहीं है।
४. परिग्रह और अन्तर के अशुद्धोपयोग का तो ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि जहाँ वस्त्रादि परिग्रह हों, वहाँ मुनित्वोचित शुद्धता है ही नहीं। वस्त्रादि परिग्रह से तो मुनिपना छेद को प्राप्त होता है। वस्त्रसहित मुनिदशा त्रिकाल सम्भव नहीं – यह नियम है।

१. आचार्य अमृतचन्द्र कृत ज्ञानज्ञेय प्रबोधिनी टीका का अंश, पृष्ठ-४२९

५. निमित्त से जो लाभ-हानि मानता है, उसे तो सम्यग्दर्शन भी नहीं है। फिर मुनि या आचार्यपद कैसे होवे? जिन्हें आत्मा का भान है, उनके वस्त्र सहित मुनिपना हो ही नहीं सकता।
६. तीव्रराग के बिना वस्त्रादि ग्रहण करने का भाव हो ही नहीं सकता और इस तीव्रराग के साथ मुनिपना भी नहीं हो सकता।
७. वस्त्ररहितपना और मुनिपना इन दोनों का भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।
८. अन्तर में आनन्द के जोर से समस्त शुभ वृत्तियाँ भी सहज टूट जाती हैं।<sup>१</sup>

तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के साथ प्राप्त अतिरिक्त गाथाएँ -

“उच्चालियम्हि पाए, इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।  
आबाधेज्ज कुलिंगं, मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥१५ ॥  
ण हि तस्स तण्णिमित्तो, बंधो सुहुमो य देसिदो समये ।  
मुच्छा परिग्गहो च्चिय, अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥१६ ॥

(हरिगीत)

हो गमन ईर्यासमिति से, पर पैर के संयोग से ।  
हों जीव बाधित या मरण हो, फिर भी उनके योग से ॥  
ना बंध हो उस निमित्त से, ऐसा कहा जिनशास्त्र में ।  
क्योंकि मूर्च्छा परिग्रह है, अध्यात्म के आधार में ॥

अर्थात् मूर्च्छा को ही परिग्रह कहे जाने के समान ईर्यासमिति पूर्वक चलते हुए मुनिराज के द्वारा कहीं जाने के लिए उठाये गये पैर से किसी छोटे प्राणी को बाधा पहुँचने पर या उसके मर जाने पर भी उन मुनिराज को उस प्राणी-घात के निमित्त से किंचित्मात्र भी बन्ध नहीं होता - ऐसा अध्यात्मरूप आगम में कहा है।<sup>१</sup>

प्रश्न - जिसतरह आपने प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थान में शुद्धाशुद्धपरिणति को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा २१५ से २१९ तक के विषय को

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ ८९-९३

२. आचार्य श्री जयसेन द्वारा मान्य ज्ञान-ज्ञेयप्रबोधिनी टीका प्रवचनसार गाथा १५-१६

विशदरूप से समझाने के लिए तीन आचार्यों का अभिप्राय तथा श्री स्वामीजी के अनमोल वचन दिये हैं; - इसीप्रकार प्रवचनसार की अन्य गाथाएँ, टीका तथा वचन भी बताइये?

उत्तर - हाँ, हाँ, जरूर बताते हैं। अब यहाँ प्रवचनसार की गाथा २४६ से २५० तक के विषय को बताकर प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थान में शुद्धाशुद्धपरिणति को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं -

यहाँ २४६वीं-२४७वीं गाथाओं में शुभोपयोगी मुनियों का स्वरूप और प्रवृत्तियाँ बतलाते हैं -

अरहंतादि सु भक्ती, वच्छलदा पवयणाभिजुत्ते सु ।  
विज्जदि जदि सामण्णे, सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥  
वंदणमंसणेहिं, अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।  
समणे सु समावणओ, ण णिंदिदा रागचरियम्हि ॥

( हरिगीत )

वात्सल्य प्रवचनरतों में अर, भक्ति अर्हत् आदि में ।  
बस यही चर्या श्रमणजन की, कही शुभ उपयोग है ॥  
श्रमणजन के प्रति वन्दन, नमन एवं अनुगमन ।  
विनय श्रम-परिहार निन्दित, नहीं है जिनमार्ग में ॥<sup>१</sup>

अर्थात् श्रमणों में अरहन्तादि की भक्ति और प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्यभावयुक्त शुभचर्या पायी जाती है ।

श्रमणों के प्रति वंदन, नमस्कार सहित अभ्युत्थान (खड़े होना) अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति तथा उनका श्रम दूर करना, - यह सब राग-चर्या में निन्दित नहीं है ।

तत्त्वप्रदीपिका का अंश - सकल संग के संन्यासरूप श्रामण्य होने पर भी कषायांश के आवेशवश केवल शुद्धात्मपरिणतिरूप रहने में स्वयं अशक्त मुनिराज के केवल शुद्धात्मपरिणतिरूप से रहनेवाले

१. प्रवचनसार, गाथा २४६-२४७, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत पद्यानुवाद ।

अर्हन्तादिक तथा शुद्धात्मपरिणतिरूप से रहने का प्रतिपादन करनेवाले प्रवचनरत जीवों के प्रति भक्ति तथा वात्सल्य से चंचल-चित्त श्रमण के, मात्र उतने राग से प्रवर्तमान परद्रव्यप्रवृत्ति के साथ शुद्धात्मपरिणति मिलित होने के कारण शुभोपयोगी चारित्र है। इससे ऐसा कहा गया है कि शुद्धात्मा का अनुरागयुक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है।

शुभोपयोगियों के शुद्धात्मा के अनुरागयुक्त चारित्र होता है; इसलिए जिन्होंने शुद्धात्मपरिणति प्राप्त की है वह ऐसे श्रमणों के प्रति जो वन्दन नमस्कार, अभ्युत्थान, अनुगमनरूप विनीत-वर्तन की प्रवृत्ति तथा शुद्धात्मपरिणति की रक्षा की निमित्तभूत ऐसी जो श्रम दूर करने की वैयावृत्तिरूप प्रवृत्ति है; वह शुभोपयोगियों के लिए दूषित नहीं है।

तात्पर्यवृत्ति का अंश - इससे यह कहा गया है कि स्वयं शुद्धोपयोगरूप लक्षण परम सामायिक में ठहरने के लिए असमर्थ मुनि के शुद्धोपयोग के फलस्वरूप केवलज्ञान-परिणत अन्य जीवों के प्रति और उसीप्रकार शुद्धोपयोग के आराधक जीवों के प्रति जो भक्तिभाव है, वह शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है। शुद्धोपयोग के साधक शुभोपयोग में लिप्त मुनिराजों को रत्नत्रय की आराधना करनेवाले शेष पुरुषों के विषय में इसप्रकार की शुभोपयोगरूप प्रवृत्तियाँ योग्य ही हैं।

इन गाथाओं में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही गई है कि अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय चौकड़ी और मिथ्यात्व का अभाव करनेवाले छोटे गुणस्थानवर्ती मुनिराज भावना तो निरन्तर यही रखते हैं कि सदा शुद्धोपयोग में रहें; पर पर्यायगत कमजोरी के कारण जब यह सम्भव नहीं रहता; तब वे अरहन्तादि की भक्ति और प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्यभाव से प्रवर्तते हैं। यदि वे शुभोपयोगी मुनिराज सच्चे सन्तों

को वन्दन, नमस्कार, उनकी विनय और वैयावृत्ति करते हैं तो भी वे निन्दनीय नहीं हैं।<sup>१</sup>

अब प्रवचनसार गाथा २४८-२४९ में यह बताते हैं कि ऐसी प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियों के ही होती हैं।

दंसणणाणुवदेसो, सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।  
चरिया हि सरागाणं, जिणिंदपूजोवदेसो य ॥२४८ ॥  
उवकुणदि जो वि णिच्चं, चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।  
कायविराधणरहिदं, सो वि सरागप्पधाणो से ॥२४९ ॥

( हरिगीत )

उपदेश दर्शन-ज्ञान पूजन, शिष्यजन का परिग्रहण ।  
और पोषण ये सभी हैं, रागियों के आचरण ॥  
तन-विराधन रहित कोई, श्रमण पर उपकार में ।  
नित लगा हो तो जानना, है राग की ही मुख्यता ॥<sup>२</sup>

अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण व उनका पोषण और जिनेन्द्र भगवान की पूजा का उपदेश सरागियों की चर्या है।

जो श्रमण काय की विराधना से रहित चार प्रकार के श्रमण संघ का नित्य उपकार करता रहता है, वह श्रमण भी राग की प्रधानता वाला ही है।

तत्त्वप्रदीपिका का अंश - अनुग्रह करने की भावनापूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान के उपदेश की प्रवृत्ति, शिष्य-ग्रहण और उनके पोषण की प्रवृत्ति तथा जिनेन्द्र पूजन के उपदेश की प्रवृत्ति, शुभोपयोगियों के ही होती है; शुद्धोपयोगियों के नहीं।

संयम की प्रतिज्ञा होने से छह काय के जीवों की विराधना से रहित, शुद्धात्मपरिणति के रक्षण में निमित्तभूत, चार प्रकार के श्रमणसंघ

१. प्रवचनसार ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका, पृष्ठ ४८०

२. प्रवचनसार गाथा २४८-२४९, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत पद्यानुवाद।

का उपकार करने की प्रवृत्ति भी राग की प्रधानता के कारण शुभोपयोगियों के ही होती है; शुद्धोपयोगियों के कदापि नहीं।

तात्पर्यवृत्ति का अंश – शंका : शुभोपयोगियों के भी किसी समय शुद्धोपयोग रूप भावना दिखाई देती है और शुद्धोपयोगियों के भी किसी समय शुभोपयोगरूप भावना देखी जाती है; श्रावकों के भी सामायिक आदि के समय शुद्धभावना देखी जाती है। ऐसी स्थिति में शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगियों में भेद करना कैसे संभव है ?”

समाधान : आपका कहना ठीक ही है; परन्तु जो अधिकतर शुभोपयोगरूप आचरण करते हैं, यद्यपि वे किसी समय शुद्धोपयोगरूप भावना करते हैं; तथापि वे शुभोपयोगी ही कहलाते हैं तथा जो शुद्धोपयोगी हैं, वे भी किसी समय शुभोपयोगरूप वर्तते हैं; तो भी वे शुद्धोपयोगी ही हैं।

जिसप्रकार जिस वन में आम्र के पेड़ अधिक हों, उस वन में कुछ नीम के पेड़ भी क्यों न हों, पर उसे आम्रवन ही कहते हैं। इसीप्रकार यहाँ शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगियों के सन्दर्भ में भी समझना चाहिए।

– एक अपेक्षा यह भी तो हो सकती है कि अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभाव से होनेवाली शुद्धपरिणति सम्पन्न मुनिराज शुद्धोपयोग के काल में शुद्धोपयोगी हैं और शुभोपयोग के काल में शुभोपयोगी हैं। इसप्रकार छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले भावलिंगी संत शुद्धोपयोगी भी हैं और शुभोपयोगी भी हैं। श्रेणी का आरोहण करनेवाले सभी मुनिराज शुद्धोपयोगी ही हैं।

‘साधु’ शब्द के पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के विशिष्ट अर्थों को भी आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं –

“अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि हैं, ऋद्धिप्राप्त

साधु ऋषि हैं। क्षपकश्रेणी और उपशमश्रेणी हूँ दोनों श्रेणियों में आरूढ साधु यति हैं और अन्य सभी साधु अनगर हैं।

ऋषि चार प्रकार के होते हैं हूँ राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि को प्राप्त साधु राजर्षि है, बुद्धि और औषधि ऋद्धि सहित साधु ब्रह्मर्षि हैं, आकाशगमन ऋद्धि सम्पन्न साधु देवर्षि हैं तथा केवलज्ञानी परमर्षि हैं। इन सभी के सुख-दुःख आदि विषयों में समताभाव होने से सभी श्रमण हैं।”

उक्त गाथाओं में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि शुद्धोपयोगी मुनिराजों के तो किसी भी प्रकार की सराग चर्या होती ही नहीं है; छठवें गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी सन्तों की भी सराग चर्या मर्यादित ही होती है। जो भी होती है, उसमें आत्मकल्याणकारी तत्त्वोपदेश, शिष्यों का ग्रहण और वे धर्ममार्ग में लगे रहें हूँ इस भावना से परिपोषण और गृहस्थों को तत्त्व-उपदेश के साथ-साथ जिन-पूजनादि करने का उपदेश ही होता है।”<sup>१</sup>

### प्रवचनसार गाथा २५०

विगत गाथाओं में शुभोपयोगी साधुओं की विराधना रहित प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट कर अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि विराधना सहित प्रवृत्ति अनगरों की नहीं, श्रावकों की ही होती है –

जदि कुणदि कायखेदं, वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।  
ण हवदि हवदि अगारी, धम्मो सो सावयाणं से ॥

( हरिगीत )

जो श्रमण वैयावृत्ति में, छह काय को पीड़ित करें।  
वे गृही ही हैं क्योंकि यह तो, श्रावकों का धर्म है ॥<sup>२</sup>

अर्थात् जो श्रमण वैयावृत्ति के लिए उद्यमी वर्तता हुआ छह काय

१. प्रवचनसार ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका पृष्ठ-४८१-४८३

२. प्रवचनसार गाथा २५० का पद्यानुवाद।

के जीवों को पीड़ित करता है; वह श्रमण, श्रमण ही नहीं है, गृहस्थ है; क्योंकि छह काय की विराधना सहित वैयावृत्ति श्रावकों का धर्म है।

तत्त्वप्रदीपिका का अंश – दूसरे मुनिराजों की शुद्धात्मपरिणति की रक्षा के अभिप्राय से वैयावृत्ति की प्रवृत्ति करता हुआ जो श्रमण, अपने संयम की विराधना करता है; वह गृहस्थधर्म में प्रवेश करनेवाला श्रमण, श्रामण्य से च्युत होता है। इसलिए प्रत्येक श्रमण को वही प्रवृत्ति करनी चाहिए, जो किसी भी रूप में संयम की विरोधी न हो; क्योंकि प्रवृत्ति में भी संयम ही साध्य है।

“यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि यहाँ श्रावकों को छह काय के जीवों का विराधक बताया गया है। क्या यह उचित है ?

अरे भाई ! इसमें उचित-अनुचित की क्या बात है ? यहाँ तो यह कहा गया है कि जिन श्रावकों के द्वारा अपनी आजीविका आदि में भूमिकानुसार होनेवाले आरम्भ-परिग्रह में, जिससे बचना सम्भव नहीं है वह ऐसी त्रस-स्थायर जीवों की जैसी विराधना होती है; उन श्रावकों के द्वारा श्रमणों की वैयावृत्ति में भी उसप्रकार की विराधना हो तो हो; पर श्रमणों के जीवन में तो ऐसी विराधना होनी ही नहीं चाहिए। श्रावकों को त्रस-स्थायर जीवों की विराधना करना चाहिए वह ऐसी कोई बात यहाँ नहीं है।

भूमिकानुसार होनेवाली त्रस-स्थायर जीवों की विराधना भी यदि श्रावक स्वयं के उपचार के लिए करें तो तत्सम्बन्धी भाव अशुभभाव हैं और सन्तों के उपचार के लिए करें तो तत्सम्बन्धी भाव शुभभाव हैं। ध्यान रहे यहाँ त्रस-स्थायर जीवों की विराधना करने की बात नहीं है; अपितु श्रावक अवस्था में भूमिकानुसार होनेवाली हिंसा की बात है।”

गाथा क्रमांक २४६ से २५० तक पाँच गाथाओं तथा उनकी टीकाओं एवं भावार्थ पर प्रवचन करते हुए आध्यात्मिक सत्पुरुषश्री कानजीस्वामी के अनमोल वचन दिव्यध्वनिसार के माध्यम से संक्षेप में दे रहे हैं –

१. मुनिराज, शुभोपयोग में हों तो उन्हें अरहन्तादि की भक्ति भी वर्तती है।
२. मुनिराज आत्मस्वभाव में स्थिर नहीं हो सकते हैं तो उन्हें शुभभाव होते हैं।
३. मुनियों को समस्त संग से रहित रहने की भावना वर्तती है।
४. शुभोपयोगी मुनिराज वस्तुस्वरूप के यथार्थ प्रतिपादक के प्रति वात्सल्य भाववाले रहते हैं।
५. हे भाई ! जो जीव वीतरागी शास्त्रों में रत रहते हैं। शुद्धात्मा के अनुभव में ही रहने का प्रतिपादन करते हैं, उन जीवों के प्रति शुभोपयोगी मुनि को वात्सल्यभाव होता है।
६. जो वीतरागी शास्त्रानुसार प्रतिपादन करते हैं, वह शरीर की क्रिया अथवा पुण्य से धर्म नहीं मानते। धर्म तो आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और रमणता से है वह ऐसा कहनेवाले जीवों के प्रति ही उन्हें वात्सल्यभाव वर्तता है।
७. प्रवचनरत जीवों के प्रति भावलिङ्गी मुनियों को शुभभाव अर्थात् वात्सल्यभाव होता है। प्रथमतः तो वे शुद्धात्मा में ही ठहरते हैं; किन्तु यदि स्थिर नहीं हो सकें तो शुद्धात्मा के प्रतिपादन करने वालों की ओर उनका लक्ष्य जाता है।
८. जो जीव जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर पुण्य से धर्म मानते हैं, दया-दान से धर्म मानते हैं, वे जैन नहीं हैं।
९. शुद्ध आत्मा के अनुरागसहित चारित्र, शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण है। जो निमित्त अथवा पुण्य से धर्म मानते हैं, निमित्त से कार्य मानते हैं, वस्त्रसहित मुनिपना मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं।
१०. अरहन्तादि के प्रति भक्ति तथा आगम-परायण जीवों के प्रति वात्सल्यभाव, वह शुभोपयोगी मुनि का लक्षण है।
११. आत्मा का मूल स्वभाव आनन्दस्वरूप है। शरीरादि जड़ पदार्थ

- आत्मा से भिन्न हैं। दया, दानादि भाव विकार हैं और विकाररहित स्वरूप पवित्र है, उसकी दृष्टि करना धर्म है।
१२. आत्मा के भान सहित शुद्धात्मा में रमणता सातवें गुणस्थान में होती है। वहाँ मुनिराज स्थिर रहने में समर्थ नहीं होते हैं तो छोटे गुणस्थान में आते हैं और शुभराग हो जाता है।
१३. शुभोपयोगी मुनिराज के शुद्धोपयोगी मुनिराज को वन्दन-नमस्कारादि करने का शुभराग होता है।
१४. जो मुनि शुभोपयोग में हैं, उन्हें शुद्धात्मा के अनुरागसहित चारित्र होता है।
१५. यहाँ शुद्धात्मा के प्रति वर्तनेवाला राग, स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं। पर के कारण राग हुआ हूँ ऐसा माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। धर्मात्मा मुनि को राग के काल में अपनी कमजोरी के कारण शुभराग होता है।
१६. शरीर के हाथ-पैर दबाकर शुभोपयोगी मुनिराज, शुद्धोपयोगी मुनिराजों की थकावट दूर करते हैं; किन्तु यहाँ हाथ की क्रिया, आत्मा नहीं करता। राग होवे तो तदनुसार लक्ष्य जाता है; किन्तु हाथ की क्रिया हाथ के कारण होती है।
- वैयावृत्ति का राग आया, अतः हाथ की क्रिया हुई हूँ ऐसा नहीं है।
  - हाथ की क्रिया हुई, इसलिए मुनियों की थकावट दूर हुई हूँ ऐसा भी नहीं है।
  - मुनिराज की थकावट दूर हुई, इसलिये श्रमरहित शरीर की अवस्था उनकी शुद्धात्मपरिणति में मदद करेगी हूँ ऐसा भी नहीं है।
१७. प्रश्न :- मुनिराज के शरीर में थकावट हो तो उन्हें शुद्ध परिणति नहीं होती, फिर यदि वे लूले-लंगड़े हों तो उन्हें धर्म कैसे होगा?  
उत्तर :- भाई ! शरीरादि बाह्य क्रिया के साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं है। थकावट जड़ की अवस्था है और धर्म आत्मा की वीतरागी

- दशा है। आत्मा, वीतरागी परिणाम करता है तो शरीर की अवस्था निमित्त कहलाती है।
१८. बाह्य संयोग तेरे धर्म को नहीं रोकते हैं। हाँ, तेरी विपरीत बुद्धि, अवश्य तेरे आत्मा के धर्म को नष्ट करती है।
१९. मुनिराज विशेष पुरुषार्थ करके राग से दूर होते हैं और स्वभावदशा का आधार लेकर वीतरागता की ओर बढ़ते रहते हैं।
२०. जबतक पात्र जीव ना मिलें, तबतक वे भी उपदेशादि में प्रवृत्ति नहीं करते हैं।
२१. वे तो सदैव ज्ञाता-दृष्टास्वरूप आत्मा का ही उपदेश देते हैं।
२२. मुनिराज कहते हैं - हे भाई ! तुम हमारा और शुभराग का लक्ष्य छोड़कर, स्वयं के ज्ञान-दर्शनमय आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करो, तुम्हें अवश्य धर्म होगा। हमारे कारण धर्म होगा हूँ ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। इसप्रकार मुनिराज सदैव निज शुद्धस्वभाव के श्रद्धान-ज्ञान का ही उपदेश देते हैं।
२३. आचार्यदेव शिष्य की योग्यतानुसार वर्तनेवाले राग को जानते हैं।
२४. अमुक आहार अथवा अमुक क्षेत्र शिष्य के लिए अनुकूल अथवा पोषण में योग्य हो सकता है हूँ ऐसा विकल्प आवे तो शिष्य की भूमिकानुसार उसकी स्थिरता के लिए वे अमुक स्थान पर जाओ - ऐसा भी कहते हैं।
२५. मुनिराज को इस बात का भी पूर्णतः भान है कि उपदेश देने का यह विकल्प जहर है, स्व-स्वरूप नहीं है। वे जानते हैं कि उनके उपदेश से सामनेवाला जीव समझ जाएगा हूँ ऐसा नहीं है। जीव, स्वयं अपनी योग्यता से ही समझता है।
२६. जो मुनिराज, निजस्वरूप में स्थिर हैं, उन्हें उपदेश अथवा शिष्य के ग्रहण आदि की प्रवृत्ति नहीं होती है।

२७. अनन्त पदार्थों के कर्तृत्व का अभिमान टलता है और त्रिकाली स्वभाव का भान होता है ।
२८. शुद्धोपयोगी मुनि को शुद्धात्मा में लीनतारूप प्रवृत्ति होती है ।
२९. वन्द्य-वन्दक भाव का मुनि को अभाव है, उन्हें मात्र शुद्धात्मा की ही प्रवृत्ति होती है और शुभाशुभभावों से निवृत्ति होती है ।
३०. हमारे लिए यह आहार बनाओ हूँ ऐसी वृत्ति मुनिराज को नहीं होती । सम्यग्दृष्टि को अनेकों बार अशुभभाव भी होते हैं, किन्तु मुनिपना होने पर अन्तरलीनता अत्यन्त बढ़ गई है । बाह्य परिग्रह अर्थात् वस्त्रादि का राग छूट गया है, अतः नग्न दिगम्बर दशा वर्तती है ।
३१. रोग हो तो भी मुनिराज, औषधि आदि ग्रहण करने का भाव नहीं करते । यद्यपि (अविरत/देशविरत) सम्यग्दृष्टि को औषधि-सेवन का भाव होता है; किन्तु मुनिराज अशुभराग की प्रवृत्ति से अत्यन्त दूर हैं और शुभराग में भी मर्यादा वर्तती है । प्रतिज्ञा तो निजस्वभाव में रमणता की है, अतः परिग्रहादि के अशुभभाव टल जाते हैं ।
३२. सातवें गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी मुनि को मुनि की सेवा अथवा भगवान की भक्ति का भी भाव नहीं वर्तता है ।
३३. स्वरूप-लीनता के समय कोई मुनि अस्वस्थ हो तो उनकी वैयावृत्ति का भाव भी शुद्धोपयोगी मुनि को नहीं होता, अतः वे मुनि का अनादर करते हैं हूँ ऐसा भी नहीं है ।
३४. सातवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव है । शुद्धात्मा में लीनतारूप प्रवृत्ति है ।<sup>१</sup>

हमने पूर्व अधिकारों में अविरतसम्यक्त्व और देशविरत गुणस्थान में शुद्ध परिणति का स्वरूप विस्तारपूर्वक समझने का प्रयास किया था ।

१. दिव्यध्वनिसार, पृष्ठ २९९-३१४, भाग-५

यहाँ हम प्रमत्ताप्रमत्तविरत नामक छठे-सातवें गुणस्थान में शुद्धपरिणति कैसी तथा कितनी रहती है - यह समझने का प्रयास कर रहे हैं ।

प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थान में तो २८ मूलगुणों के पालन करने का विशेष पुण्य परिणाम ही रहता है । इस गुणस्थान से नीचे के चौथे तथा पाँचवें गुणस्थानों में तो न्यायरूप किञ्चित् हिंसादि पाप और यथायोग्य पाप-प्रदाता आरम्भादिरूप कार्य के परिणाम रहते हुए भी जब शुद्धपरिणति रहती है, तब छठे गुणस्थान में तो मात्र पुण्य-परिणाम ही रहता है, वहाँ तो अशुभोपयोग ही नहीं; अतः शुद्धपरिणति होगी ही, उसे ही जानने का प्रयास करते हैं -

१. चौथे गुणस्थान में एक कषाय-चौकड़ी के अभावपूर्वक शुद्ध-परिणति धाराप्रवाहरूप से सतत रहती है ।
२. पाँचवें गुणस्थान में दो कषाय-चौकड़ी के अभावपूर्वक शुद्ध-परिणति धाराप्रवाहरूप से सतत रहती है ।
३. छठे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन तीन कषाय-चौकड़ी के अभाव एवं संज्वलन कषाय-चौकड़ी के सर्वघाति स्पर्द्धकों के अभावपूर्वक बलवती शुद्धपरिणति रहती ही है । यदि अज्ञान से कोई छठे गुणस्थान में शुद्धपरिणति माने ही नहीं, तो उसे न मुनिराज के स्वरूप का पता है और न गुणस्थान के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान है ।

प्रश्न - छठे गुणस्थान की शुद्धपरिणति का कार्य क्या है?

उत्तर - छठे गुणस्थान की शुद्धपरिणति के कार्य को निम्न बिन्दुओं से समझ सकते हैं -

१. शुद्धपरिणति किसी भी गुणस्थान की हो, उसका कार्य संवर-निर्जरारूप मोक्षमार्ग निरन्तर गतिमान रखना ही है ।

२. छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज की शुद्धपरिणति, प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती मुनिराज के यथार्थ भावलिंगपने को सुरक्षित रखती है।
३. मोक्षमार्ग सतत् बना रहता है तो आनन्द की अखण्डता भी सहज ही बनी रहती है।
४. सातवें गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग और छठे गुणस्थान के योग्य विशिष्ट शुभोपयोगसहित शुद्धपरिणति ही सामान्य मुनिराज के जीवन का सर्वस्व है।

**प्रश्न – पिछले प्रकरण में शुद्धोपयोग के साथ शुद्धपरिणति उत्पन्न होती है – ऐसा कहा गया है और अब यहाँ प्रमत्तविरत गुणस्थान में शुद्धोपयोग नहीं है तो शुद्धपरिणति कहाँ से और कैसे रहेगी?**

**उत्तर –** जब साधक सर्वप्रथम बाह्य नग्न दिग्म्बररूप मुनि अवस्था में वास्तविक मुनिपने को सप्तम गुणस्थान में व्यक्त करता है तो शुद्धोपयोग के साथ-साथ तीन कषाय-चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति प्रगट होती है।

इस शुद्धोपयोग के साथ एक अन्तर्मुहूर्त काल तक मुनिपने का जीवन व्यतीत होने के बाद सहज ही वे छठे गुणस्थान में आते हैं। इस छठे गुणस्थान में यद्यपि शुद्धोपयोग नहीं रहता; तथापि शुद्धपरिणति के साथ शुभोपयोग रहता है।

इसतरह छठे गुणस्थान की शुद्धपरिणति के कारण ही प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त के बाद उन्हें सातवें गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग होता रहता है।

**प्रश्न – शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति, सामान्य मुनिराज का स्वरूप है – ऐसा क्यों कहा? उसका कारण क्या है?**

**उत्तर –** सातवें-छठे/छठे-सातवें गुणस्थानों में नित्य झूलते रहना, यह सामान्य मुनिराज का निरतिशय अवस्था का प्रतीक है।

चूँकि जो विशेष (सातिशय) मुनिराज होते हैं; वे आठवें अपूर्वकरण आदि ऊपर के गुणस्थानों में गमन करते हैं और अत्यन्त तीव्र गति से

मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास करते हैं। इस अपेक्षा से श्रेणीगत मुनिराज से भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए इस सातवें गुणस्थानवाली अप्रमत्त अवस्था को निरतिशय अप्रमत्त अर्थात् सामान्य मुनिराज की अवस्था कहा है।

इनकी प्रमत्तदशा को स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार जीवकाण्ड में निम्न प्रकार कहा है –

“सकलसंयम को रोकनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने से पूर्ण संयम तो हो चुका है, किन्तु उस संयम के साथ-साथ संज्वलन और नोकषाय का उदय रहने से संयम में मल को उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है; अतएव इस गुणस्थान को प्रमत्तविरत कहते हैं।<sup>१</sup>

जो महाव्रती, सम्पूर्ण मूलगुण और शील के भेदों से युक्त होता हुआ भी व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों प्रकार के प्रमादों को करता है, वह प्रमत्तसंयत गुणस्थानवाला है; अतएव वह चित्रल आचरणवाला माना गया है।”<sup>२</sup>

**प्रश्न – आपने सामान्य मुनिराज में शुद्धपरिणति की बात तो कही, शुभोपयोग भी बताया; लेकिन उन्हें शुद्धोपयोग भी होता है – यह कहा ही नहीं – क्या बात है?**

**उत्तर –** सामान्य मुनिराज के प्रमत्तविरत गुणस्थान में मात्र शुभोपयोग ही होता है, शुद्धोपयोग नहीं, क्योंकि एक समय में एक ही उपयोग होता है, दो उपयोग एक साथ नहीं होते।

**प्रश्न – एक समय में एक ही उपयोग होवे, यह विषय हमें मान्य है; तथापि उन मुनिराज को कभी शुद्धोपयोग भी होने दो न! शुभोपयोग ही क्यों, शुद्धोपयोग क्यों नहीं?**

**उत्तर –** प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती मुनिराजों का उपयोग पुण्यरूप कार्यो एवं पुण्यरूप परिणामों में ही संलग्न रहता है; इसलिए उन्हें शुभोपयोग ही रहता है।

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३२, हिन्दी अनुवाद

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३३, हिन्दी अनुवाद



प्रश्न – छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज पुण्यरूप कार्यो एवं पुण्यरूप परिणामों में ही क्यों संलग्न रहते हैं? शुद्धात्मा में संलग्न क्यों नहीं होते?

उत्तर – पर्यायगत स्वभाव के कारण छठे गुणस्थान में शुभोपयोग ही होता है। आचार्यों ने शास्त्र में भी छठे गुणस्थान में शुद्धपरिणति के साथ शुभोपयोग ही बताया है। यदि उनके शुद्धोपयोग हो तो उनका गुणस्थान सातवाँ हो जाता है; छठा नहीं रहता।

प्रश्न – चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावकों के गुणस्थानों में तो आपने शुद्धपरिणति के साथ शुद्धोपयोग भी बताया था, परन्तु यहाँ छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज को शुद्धपरिणति के साथ केवल विशिष्ट शुभोपयोग ही क्यों बता रहे हो? कुछ अटपटा लग रहा है।

उत्तर – मुनिराज के जीवन में शुभोपयोग-शुद्धोपयोग की अवस्था बारम्बार होती रहती है, अतः उनके दो गुणस्थान बताये हैं।

यह भी बताया है कि वे इन दो गुणस्थानों में सामान्यतया झूलते रहते हैं। शुभोपयोग का गुणस्थान छठा और शुद्धोपयोग का गुणस्थान सातवाँ।

अतः उनके सातवें गुणस्थान में ध्यान अर्थात् शुद्धोपयोग होता है – यह बताते हुए आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ४६ में कहा है –

णट्टासेसपमादो, वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।

अणुवसमओ अखवओ, झाणणिलीणो हु अपमत्तो।।

जिस संयत के सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं, जो समग्र ही महाव्रत, अट्टाईस मूलगुण तथा शील से युक्त हैं तथा शरीर और आत्मा के भेदज्ञान में एवं मोक्ष के कारणभूत ध्यान में निरन्तर लीन रहते हैं – ऐसे अप्रमत्त मुनिराज जब तक उपशम या क्षपकश्रेणी का आरोहण नहीं करते, तब तक उनको स्वस्थान अप्रमत्त अथवा निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं।

प्रश्न – बड़े-बड़े आचार्यों के संघों में शताधिक मुनिराज विराजते हैं। अथवा सम्पूर्ण ढाईद्वीप के मनुष्य क्षेत्र में अधिकतम छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में ५,९३,९८,२०६ और सातवें अप्रमत्त विरत गुणस्थान में २,९६,९९,१०३ मुनिराज रहते हैं – इन मुनिराजों के छठवें गुणस्थान में भी जो शुद्धपरिणति रहती है, वह क्या समान ही रहती है? या असमान भी?

उत्तर – शुद्धपरिणति सदाकाल एक समान ही रहती है – ऐसा कोई नियम नहीं है। छठे गुणस्थान में मात्र संज्वलनकषाय और ९ नोकषायों के देशघातिस्पर्द्धकों के तीव्र उदय में हीनाधिकता के कारण उन मुनिराजों की शुद्धपरिणति में भी यत्किंचित् अन्तर होता है। उनके समान तथा असमान दोनों प्रकार की शुद्धपरिणति हो सकती है। कुछ मुनि महाराजों की शुद्धपरिणति समान भी रह सकती है और कुछ मुनिराजों की असमान भी हो सकती है। तदनुसार उनके जीवन में संवर, निर्जरा, अतीन्द्रिय सुख आदि सब अलग-अलग रह सकते हैं।

प्रश्न – यह कैसे सम्भव है?

उत्तर – जैसे, अविरतसम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान में एक अनन्तानुबन्धी कषाय-चौकड़ी का अभाव होने पर भी विद्यमान अन्य कषायों की हीनाधिकता के कारण उनकी शुद्धपरिणति अलग-अलग हो सकती है/होती है – ऐसा बताया था।

अथवा जैसे, देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान में प्रतिमाओं की अपेक्षा से ग्यारह भेद बताये हैं। यद्यपि यहाँ सभी प्रतिमाओं में दो ही कषाय-चौकड़ी का अभाव होने पर भी ग्यारह भेद होते हैं।

उसीप्रकार प्रमत्तविरत गुणस्थान के भी (एक ही गुणस्थान होने पर भी) पुरुषार्थ की हीनाधिकता और संज्वलन कषाय एवं ९ नोकषायों

के हीनाधिक उदय का निमित्त पाकर शुद्धपरिणति के अनेक भेद भी हो सकते हैं; क्योंकि उनके शुद्धपरिणति के अंश हीनाधिक हो सकते हैं।

छठे गुणस्थान में संज्वलन कषाय-चौकड़ी एवं ९ नोकषायों के देशघाति स्पर्द्धकों का उदय सामान्यरूप से तीव्र ही होता है। उस तीव्र उदय में भी अनुभाग (फलदान की शक्ति) हीनाधिक होता है; अतः उनकी शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति में भी पीत-पद्म-शुक्ललेश्यारूप परिणामों में भी अन्तर होता है।

**प्रश्न - संज्वलन कषाय के तीव्र उदय में मुनिराज की शुद्ध-परिणति में हीनाधिकता कैसे हो सकती है? स्पष्ट करें।**

**उत्तर - १.** जो प्रमत्त-विरत गुणस्थानवर्ती मुनिराज, पाँचवें, चौथे गुणस्थान में पतित होंगे, उनकी शुद्ध परिणति नियम से अलग-अलग प्रकार की क्रमशः अधिक-अधिक अशुद्ध होती है।

**२.** जबकि जो प्रमत्तविरत मुनिराज, पुरुषार्थपूर्वक अप्रमत्तविरत नामक-सातवें गुणस्थान में गमन करते हैं, उनकी शुद्धपरिणति विशेष विशुद्ध एवं बलवती होती है।

इसीप्रकार जिन छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज को तीर्थकरप्रकृति का बन्ध होता है, अथवा जिन्हें कामदेव या चक्रवर्ती, होने के योग्य निधत्ति-निकाचितरूप पुण्यकर्म का बन्ध होता है - ऐसे अलग-अलग परिणाम वाले छठे प्रमत्तविरत मुनिराज को भिन्न-भिन्न प्रकार की विशुद्धि वाली शुभपरिणति अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार का शुभोपयोग होना स्वाभाविक है।

जैसे, कोई मुनिराज प्रतिक्रमण कर रहे हैं, कोई जिनेन्द्र-वन्दना कर रहे हैं, कोई शास्त्र-रचना कर रहे हैं, कोई धर्मोपदेश दे रहे हैं, कोई आहार ले रहे हैं, कोई निहार कर रहे हैं इत्यादि कार्यों के समय भी

उनको अप्रमत्तविरत नामक सप्तम गुणस्थान बीच-बीच में आता ही रहता है, तब भी उनकी शुद्धपरिणति में हीनाधिकता होती रहती है।

**प्रश्न - जिनके जीवन में शुद्धपरिणति की हीनाधिकता होती है, उनको अपने इन परिणामों का पता चलता है या नहीं?**

**उत्तर -** ज्ञानी धर्मात्मा जीवों का जीवन सहज रहता है। इनके जीवन में कोई भी कार्य हठपूर्वक नहीं होता। उन्हें सब सहजता से मान्य रहता है। वे तो व्यक्त शुद्धपरिणतिजन्य आनन्द का सहज उपभोग करते हैं; उनके जीवन का स्वरूप ही ऐसा रहता है। वास्तव में देखा जाए तो हठी सो जैनी नहीं और जैनी सो हठी नहीं।

**प्रश्न - जिन मुनिराज के ऊपर घोर उपसर्ग होता है, वे मुनिराज उस घोर उपसर्ग को जानते हैं या नहीं?**

**उत्तर -** जानते तो हैं, पर उसमें जुड़ते नहीं है, बुद्धिपूर्वक वहाँ उपयोग नहीं लगाते।

**प्रश्न - इस उत्तर से हमें समाधान नहीं हुआ। स्पष्ट करें।**

**उत्तर -** जिन मुनिराज के ऊपर उपसर्ग हो रहा है, वे छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते रहते हैं; अतः वे जब छठे गुणस्थान में आते हैं तो उन्हें उपसर्ग का ज्ञान हो जाता है और यदि सामान्य ज्ञान होते ही विशेष पुरुषार्थपूर्वक विशेष आत्म-मग्नतारूप विशेष श्रेणीरूप विशेष शुद्धोपयोगी बनते हैं तो उन्हें उपसर्ग का ज्ञान, बुद्धिपूर्वक नहीं रहता है; पूर्व में जाने हुए विषय का धारणारूप ज्ञान विद्यमान रहता है - ऐसा ही क्रम चलता रहता है।

इसी क्रम में उपसर्ग की तीव्रता हो जाए और कदाचित् उसी काल उनके आयु कर्म का नाश भी हो जाए तो मरण भी हो सकता है।

**यदि पुरुषार्थ (आत्मा में विशेष मग्नता होनेरूप) बढ़ जाए तो**

वे मुनिराज, क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर उपसर्ग केवली अथवा अन्तःकृत केवली होते हुए उपसर्ग रहित भी हो जाते हैं और आयु के अन्त में सिद्ध भगवान भी बन जाते हैं। जैसे, युधिष्ठिर आदि तीन पाण्डव, गजकुमार, सुकौशल आदि मुनिराज।

इस विषय को वास्तविकरूप से सत्य ही समझना चाहिए। यह न कपोल-कल्पित है, न अतिशयोक्ति पूर्ण है और न असम्भव है।

जैसे, मैदान में खेलते हुए खिलाड़ी को शरीर पर अनेक बार चोट लग जाती है, अनेक बार खून भी बहने लगता है तो भी वह खिलाड़ी न मैदान से भागता है, न रोता है, न खेलना छोड़ता है; कभी कभी तो उसे चोट का पता भी नहीं चलता, वह तो अपनी धुन में खेलता ही रहता है।

अतः खेल से प्राप्त होनेवाले आनन्द की तुलना में आत्म-मग्नता से प्राप्त होनेवाला आनन्द क्या कम होता है?

इसीतरह जब आत्म-मग्नता का कार्य विशेषरूप से सम्पन्न होता है; तब होनेवाले उपसर्ग का दुःख गौण अथवा कम भी हो जाता है अर्थात् वह उपसर्ग, भूमिका का उल्लंघन न करते हुए त्रास/दुःख देनेवाला नहीं होता। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि भूमिका के अनुसार दुःख भी होता है, हो सकता है।

प्रश्न - आपने शुभ एवं अशुभपरिणति के उदाहरण मात्र श्रावक के जीवन में ही घटित करके बताए तो क्या मुनिराज के जीवन में भी शुभाशुभपरिणति नहीं होती?

उत्तर - मुनिराज के जीवन में मुख्यतः शुद्धभाव और शुभभाव की मिश्रित परिणति की मिश्रधारा चला ही करती है; अतः उनके भी शुद्धाशुद्धपरिणति नियम से होती ही रहती है। जैसे, छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज स्वाध्याय कर रहे हैं - यह कार्य तो शुभोपयोगरूप हो गया; उसी समय यदि उनके आचार्य महाराज की चिरविदाई हो जाए तो

संज्वलन कषाय के तीव्र उदय के कारण शिष्य मण्डली या मुनिराजों को आँसू भी आ जाते हैं, तब उन्हें संक्लेश मिश्रित शुभ-शुद्ध भाव की मिश्रधारा होती है।

यद्यपि उन्हें पाँच इन्द्रियों की विषयाभिलाषारूप अशुभोपयोग तो नहीं होता, क्योंकि मुनिराज शुभोपयोगी या शुद्धोपयोगी ही होते हैं; उनके बुद्धिपूर्वक संक्लेशवाला अशुभोपयोग तो रंचमात्र भी नहीं होता।

इसतरह संज्वलन कषायजनित उत्तरोत्तर हीन राग परिणाम, दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर्यन्त होते ही रहते हैं - यह तो उनकी अशुद्धपरिणति का उदाहरण है। तथा अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिराज शुद्धोपयोग में रहते हैं; उसी काल में अबुद्धिपूर्वक का शुभराग अट्टाईस मूलगुणों के पालन के पुण्यमय परिणाम सहजरूप से रहते हैं - यह उनकी शुभपरिणति का उदाहरण है।

प्रश्न - मुनिराज के जीवन में शुद्धाशुद्धपरिणति का यह क्रम कहाँ तक रहता है?

उत्तर - जबतक मोह का उदय रहता है तबतक शुद्धाशुद्धपरिणति रहती है। मोह का उदय मुनिराज के जीवन में सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है; इसलिए शुद्धाशुद्ध-परिणति भी दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहती है।

प्रश्न - सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान से मुनिराज नियम से शुद्धोपयोग/ध्यान में मग्न रहते हैं; इसलिए उन्हें तो यह मिश्र शुद्धाशुद्धपरिणति नहीं होना चाहिए; फिर भी आप दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक शुद्धाशुद्धपरिणति क्यों कह रहे हो - इसका क्या कारण है?

उत्तर - संज्वलन लोभकषाय का उदय दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है, यह आगमवचन सबको मान्य ही है; इसलिए हम शास्त्र के अनुसार ही तो कह रहे हैं।

प्रश्न – दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक शुद्धाशुद्धपरिणति रहती है, उनमें भी अशुद्धपरिणति रहती है – ऐसा कहना/मानना हमें अच्छा नहीं लगता, हम क्या करें?

उत्तर – आप अपनी धारणा आगमानुसार बना लें तो आपको सब अच्छा लगेगा। वास्तव में इसमें अच्छा-बुरा लगने की कोई बात ही नहीं है; अतः अपनी बुद्धि को आगमानुसार ही बनाना कल्याणदायक है।

प्रश्न – जो मोक्षमार्गस्थ नहीं है – ऐसे मोक्षमार्ग के विराधक तीन गुणस्थानवर्ती (मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि) जीवों के जीवन में उक्त परिणतियों का स्वरूप कैसा रहेगा?

उत्तर – सामान्यतया उक्त तीन गुणस्थानवर्ती जीव, मोक्षमार्ग के विराधक होने के कारण उनके जीवन में शुद्धपरिणति होने का तो प्रश्न ही नहीं है। यह भी निश्चित नियम है कि जिनको बीच-बीच में शुद्धोपयोग होता है – ऐसे साधक जीवों को ही शुद्धपरिणति नियम से धाराप्रवाहरूप से रहती है, अन्य मोक्षमार्ग के विराधक जीवों को शुद्धपरिणति नहीं रह सकती है।

प्रश्न – सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों को कुछ काल पूर्व शुद्धोपयोग तो हुआ था, उन दिनों में शुद्धपरिणति प्रगट हुई थी, अब क्यों नहीं?

उत्तर – जिनके जीवन में वर्तमान काल में भी मोक्षमार्ग व्यक्त है, उनके जीवन में ही शुद्धपरिणति रहने का नियम है, अन्य जीवों के नहीं। दूसरे-तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव वर्तमानकाल में मोक्षमार्गस्थ नहीं है; अतः उनके जीवन में शुद्धपरिणति नहीं है।

यद्यपि धवला शास्त्र में दूसरे से बारहवें गुणस्थान तक जीव की 'जिन' संज्ञा मानी है; क्योंकि दूसरे-तीसरे गुणस्थान में अभी मिथ्यात्व का उदय नहीं है, अतः मिथ्यात्व को जीतने के कारण उनकी 'जिन' संज्ञा है<sup>१</sup>, तथापि उनको मोक्षमार्गी नहीं माना है।

प्रश्न – जो मोक्षमार्गी नहीं हैं, उनके जीवन में क्या मात्र शुभाशुभोपयोग और शुभाशुभपरिणति ही रहेगी?

उत्तर – हाँ, ऐसा ही है।

प्रश्न – गुणस्थान के अनुसार शुद्धपरिणति का स्वरूप कहाँ कैसा है?

उत्तर – आंशिक शुद्धपरिणति या आंशिक वीतरागता तो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी के अभाव या सम्यक्त्वाचरण चारित्र के अविरत सम्यक्त्व नाम के चौथे गुणस्थान में भी प्रगट हो जाती है तथा पूर्ण वीतरागता उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त वह शुद्धपरिणति पूर्णरूप से विद्यमान रहती है।

आगे सिद्धावस्था में भी अनन्त काल पर्यन्त 'शुद्धपरिणति' अक्षुण्ण रूप से रहती ही है। अब पुनः राग-द्वेष परिणाम उत्पन्न होने का कोई कारण उन्हें नहीं रहा है, जिससे उनकी शुद्धपरिणति नष्ट हो।

प्रश्न – शुद्धात्मपरिणति अथवा शुद्धपरिणति को जानकर हमें क्या लाभ है?

उत्तर – इस शुद्धपरिणति को जानकर हमें निम्न साक्षात् एवं परम्परा लाभ प्राप्त होते हैं –

१. सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते' – प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा २०१

१. शुद्धपरिणति सम्यग्दृष्टियों के ही होती है, मिथ्यादृष्टियों के नहीं – यह निर्णय हो जाता है।
२. अज्ञान का नाश होता है, ज्ञान होता है, आनन्द होता है – यह तो साक्षात् लाभ ही है।
३. युद्ध आदि करते हुए विरोधी हिंसा के समय भी जीव, भूमिका के अनुसार धार्मिक रहता है, संवर-निर्जरा होते रहते हैं अर्थात् मोक्षमार्ग बना रहता है। जैसे, रावण के साथ युद्ध करते समय भी मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी का जीवन धार्मिक ही माना जाता है, क्योंकि धर्म के कारण ही उन्होंने अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं किया था।
४. अशुभोपयोग, अशुभभाव, अशुभ परिणति, अशुभयोग या अशुभलेश्या के समय में भी जीव की 'शुद्धपरिणति' सुरक्षित ही रहती है। जैसे, लक्ष्मण के शव को श्रीरामचन्द्रजी छह महीने तक ढोते रहे; तथापि सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं हुआ – यह विषय भी इससे अत्यन्त स्पष्ट होता है।
५. इसीप्रकार भोगों के कारण भी धर्म नष्ट नहीं होता – यह निर्णय पक्का होता है। जैसे, सभी सम्यग्दृष्टि चक्रवर्तियों का जीवन। जीव के औदयिक परिणामों से किसी भी जीव के धार्मिक/अधार्मिकपने का निर्णय नहीं करना चाहिए – ऐसा सम्यक्बोध होता है।
६. वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान के उपदेश की महिमा आती है।
७. सच्चे वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का पक्का निर्णय होता है।
८. धर्म का सच्चा ज्ञान तथा यथार्थ निर्णय करने में अनुकूलता प्राप्त होती है।

## द्रव्यलिंगी-भावलिंगी का स्वरूप

प्रश्न – श्रावक और मुनियों के स्वरूप के कथन के समय में आपने 'द्रव्यलिंगी-भावलिंगी' – इन शब्दों का प्रयोग किया है, उसका भाव क्या है? यह स्पष्ट करें।

उत्तर – द्रव्यलिंग, शरीर की बाह्य अवस्था विशेष को कहते हैं तथा उस अवस्था सहित व्यक्ति को द्रव्यलिंगी कहते हैं।

प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जब आगमानुसार पाँच अणुव्रतादि का बाह्य में पालन करते हैं, तब उस गृहस्थ श्रावक को भी द्रव्यलिंगी श्रावक कहते हैं।

जब वही श्रावक, निश्चय सम्यग्दर्शन सहित एवं दो कषाय चौकड़ी के उदयाभावपूर्वक वीतरागता या शुद्धपरिणति प्रगट करता है तो उस द्रव्यलिंगी श्रावक को ही पंचम (देशविरत) गुणस्थानवर्ती भावलिंगी श्रावक कहते हैं।

इसीप्रकार मुनिराज के जीवन के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। जब प्रथम से लेकर पंचम गुणस्थान तक अट्ठाईस मूलगुणों का आगमानुसार पालन तो चलता रहता है; लेकिन मुनिराज के योग्य वीतरागता प्रगट नहीं होती तो उन मुनिराज को द्रव्यलिंगी मुनिराज कहते हैं।

जब वे ही द्रव्यलिंगी मुनिराज, निज शुद्धात्मा के स्वीकार अर्थात् शुद्धात्मा के ध्यान से निश्चय सम्यग्दर्शन तो प्रगट करते ही हैं और साथ ही तीन कषाय-चौकड़ी के उदयाभावपूर्वक वीतरागता या शुद्ध परिणति व्यक्त करते हैं तो उन द्रव्यलिंगी मुनिराज को ही भावलिंगी मुनिराज कहते हैं।

**प्रश्न – द्रव्यलिंग तथा भावलिंग में से कौनसा लिंग प्रथम प्रगट होता है?**

**उत्तर – द्रव्यलिंगपूर्वक ही भावलिंग प्रगट होने का नियम है।**

कोई भी श्रावक सर्वप्रथम द्रव्यलिंगरूप मुनिपना का ही स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ द्रव्यलिंग कारण है और भावलिंग कार्य है – यद्यपि सामान्यरूप से ऐसा कहा जाता है; लेकिन वह वास्तविक नहीं है।

**प्रश्न – फिर वास्तविक क्या है?**

**उत्तर –** यद्यपि द्रव्यलिंगपूर्वक ही भावलिंग होता है, तथापि द्रव्यलिंग में भावलिंग को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती है। हाँ, द्रव्यलिंग पहले होता है और बाद में भावलिंग – क्रम तो ऐसा ही है। वास्तव में जिसे अल्पकाल में भावलिंग प्रगट होनेवाला होता है, उसे द्रव्यलिंग ग्रहण करने का भाव होता ही है – ऐसा जानना चाहिए।

**प्रश्न – द्रव्यलिंग के समय होनेवाले पुण्यपरिणाम के कारण भावलिंग होता है – ऐसा स्वीकार करने में क्या बाधा है?**

**उत्तर –** यदि ऐसा माना जाए तो अनेक अभव्य जीव भी तो द्रव्यलिंग धारण करते हैं, उन्हें भी भावलिंग उत्पन्न होना चाहिए; लेकिन ऐसा तो होता ही नहीं है; क्योंकि अभव्य जीव में ऐसी योग्यता का ही अभाव है।

यदि वास्तव में पुण्यपरिणाम से ही सातवाँ गुणस्थान होता हो तो सभी पुण्यपरिणामवालों को सातवाँ गुणस्थान होना अनिवार्य हो जाएगा; किन्तु ऐसा तो नहीं होता; अतः जो साधक, द्रव्यलिंग अवस्थासहित यथायोग्य पुण्य परिणाम की भूमिका में निज शुद्धात्मा का उग्र अवलम्बन लेकर, शुद्धोपयोग अंगीकार करते हैं, उनका वह शुद्धोपयोग ही मुनिपने का वास्तविक कारण है, लेकिन उनका वह पुण्यपरिणाम, साक्षात् उस मुनिपने का कारण नहीं है। प्रवचनसार<sup>१</sup> एवं

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गाथा २१६ एवं मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-३

मोक्षमार्गप्रकाशक में तो शुद्धोपयोग को श्रामण्य का लक्षण ही स्वीकार किया है।

पुण्यपरिणाम अर्थात् रागभाव तो कर्मबन्धन का कारण है, वह वीतरागता का उत्पादक कैसे हो सकता है? निमित्त मात्र कहोगे तो हमें कुछ आपत्ति नहीं है। आगम में भी पुण्यपरिणाम को निमित्त मात्र ही कहा है। उत्पादक कारण तो उस भूमिकानुसार यथायोग्य शुद्धोपयोग सहित शुद्धपरिणति और निमित्त कारण पुण्य परिणाम को स्वीकार करने में हमें कोई बाधा नहीं है।

**प्रश्न – छठा प्रमत्तविरत गुणस्थान कारण है और सातवाँ अप्रमत्तविरत गुणस्थान कार्य है – ऐसा मानना तो ठीक है ना?**

**उत्तर –** यह भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार करोगे तो मुनिराज को प्रथम छठा गुणस्थान होना चाहिए और तदनन्तर सातवाँ गुणस्थान होना चाहिए।

गुणस्थान के गमनागमन प्रकरण के आधार से विचार किया जाए तो प्रथम अप्रमत्तविरतरूप ध्यानमय सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और बाद में ध्यान छूटने पर प्रमत्तविरतरूप छठा गुणस्थान आता है।

**प्रश्न – फिर अप्रमत्तविरत नामक सातवें गुणस्थान की प्राप्ति के पहले कौनसा गुणस्थान होना अनिवार्य है?**

**उत्तर –** किसी एक विशिष्ट गुणस्थान से भावलिंगी मुनिपना अर्थात् अप्रमत्तविरत गुणस्थान की अवस्था प्रगट होने का कोई नियम नहीं है।

यद्यपि यह सामान्य नियम है कि सर्वप्रथम मिथ्यात्व का अभाव करके चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त करें। पश्चात् पुरुषार्थपूर्वक बाह्य व्रत अंगीकार करके अन्तरंग में दो कषाय-चौकड़ी का अभाव करके देशविरत नामक पंचम गुणस्थान प्राप्त करें। उसके बाद क्रमशः प्रतिमाओं को बढ़ाते हुए क्षुल्लक-ऐलक का पद स्वीकार करें, पश्चात् वैराग्य की पराकाष्ठा पर पहुँचकर दीक्षा-संस्कार सहित बाह्य मुनिपना अंगीकार करें, उसके बाद ध्यानरूप सामायिक आदि विधिपूर्वक सामायिक चारित्र सहित

तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धोपयोग-परिणति को प्राप्त होकर प्रथम यथार्थ भावलिंग रूप सप्तम गुणस्थान प्रगट करे, उसके बाद निरन्तर स्वरूप में स्थिर रहने का पुरुषार्थ न हो सके तो निश्चय-व्यवहाररूप अट्टाईस मूलगुणों का पालन करते हुए छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए जब तक श्रेणी आरोहण न हो, तब तक इसी प्रकार जीवन-निर्वाह करना चाहिए - यही सामान्य/उत्सर्ग नियम है।

प्रथम गुणस्थान या चतुर्थ गुणस्थान से सीधे द्रव्यलिंग धारण करना अपवाद मार्ग है।

गुणस्थान के गमनागमन की प्रक्रिया के आधार पर मिथ्यात्व, अविरत सम्यक्त्व और देशविरत गुणस्थान से अप्रमत्तविरत नामक ध्यानमय गुणस्थान की प्राप्ति का नियम बताया गया है।<sup>१</sup>

जिस जिस गुणस्थान से अप्रमत्तविरतरूप भावलिंगी मुनिपना व्यक्त होता है, उस-उस गुणस्थान को द्रव्यलिंगी मुनिराज का गुणस्थान कह सकते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि - १. मिथ्यात्व, २. अविरत सम्यक्त्व और ३. देशविरत गुणस्थान में विराजमान मुनिराज - इसतरह तीन भेद द्रव्यलिंगी मुनिराज के हो जाते हैं।

इसप्रकार द्रव्यलिंग, न कोई गाली है, न कोई अपमानजनक सम्बोधन है और न कोई असत्य कथन है। यह तो पर्यायगत वास्तविक परम सत्य स्वरूप का कथन है।

आज तक सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए सभी साधक तथा भविष्य में होनेवाले तीर्थंकर महापुरुष भी प्रथम द्रव्यलिंग धारण किये बिना भावलिंगी मुनिराज न हुए हैं और न होंगे।

इसप्रकार मोक्षमार्ग में द्रव्यलिंग सहित मुनिपने का स्वीकार करना ही अनिवार्य है - ऐसा मानना ही सर्वथा उचित है।

ध्यान रहे कि छठे-सातवें गुणस्थान के गमनागमन के प्रकरण में दो अलग-अलग मुनिराज नहीं हैं, बल्कि यह एक ही मुनिराज के गुणस्थान-परिवर्तन की बात है।

जब विवक्षित मुनिराज को आत्म-मग्नतारूप विशेष पुरुषार्थ से अप्रमत्तविरत गुणस्थान के योग्य ध्यानमय अवस्था की प्राप्ति होती है, तब उस अवस्था को ही अप्रमत्तविरत गुणस्थान कहते हैं।

जब वे ही मुनिराज, आत्मध्यानरूप अवस्था से रहित होते हैं, तब प्रमत्तविरत गुणस्थान को प्राप्त होते हैं।

मुनिराज, प्रमत्त अवस्था को प्राप्त होते हैं; इसका अर्थ वे भावलिंगी मुनिराज नहीं रहे - ऐसा नहीं है। वे उस समय तीन कषाय-चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति सहित शुभोपयोगी मुनिराज कहलाते हैं।

शुभोपयोगी मुनिराज और शुद्धोपयोगी मुनिराज - ऐसे ये दोनों एक ही व्यक्ति की दो अवस्थाएँ हैं, दोनों पूज्य हैं, दोनों भावलिंगी हैं, दोनों के द्रव्यलिंग भी है और दोनों मोक्षमार्गी तो हैं ही।

प्रश्न - छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिराज पूज्य हैं, वन्दनीय हैं और द्रव्यलिंगी मुनिराज पूज्य नहीं हैं, वन्दनीय भी नहीं हैं - आप यही कहना चाहते हो ना?

उत्तर - नहीं, नहीं। द्रव्यलिंगी मुनिराज भी पूज्य हैं, यदि वे अट्टाईस मूलगुणों का शास्त्रानुसार पालन करते हैं। उनकी सेवा करना, वन्दना करना आदि भी श्रावक का कर्तव्य है।

प्रश्न - यह कैसे? आप अपनी मन-मर्जी से कुछ भी कह रहे हो। द्रव्यलिंगी के सम्बन्ध में आपने जो कुछ कहा - उसके लिए कुछ शास्त्राधार भी बता सकते हो क्या?

उत्तर - शास्त्राधार हम आगे दे ही रहे हैं। सर्वज्ञकथित जिनधर्म/वीतरागधर्म में अपनी मर्जी से कुछ नहीं चलता। शास्त्राधार अत्यावश्यक होता है।

१. विशेष जानकारी के लिए गुणस्थानविवेचन, पृष्ठ ७७ से ८१ एवं ११६ से १२१ पर्यन्त देखें।

पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र के आठवें अध्याय के 'चरणानुयोग के व्याख्यान का विधान' प्रकरण में इस विषय का अच्छा खुलासा किया है; उसे हम आगे दे रहे हैं -

“द्रव्यानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करने पर मुनिसंघ में द्रव्यलिंगी भी हैं और भावलिंगी भी हैं; सो प्रथम तो उनका ठीक (निर्णय) होना कठिन है; क्योंकि बाह्य प्रवृत्ति समान है तथा यदि कदाचित् सम्यक्त्वी को किसी चिह्न द्वारा ठीक (निर्णय) हो जाये और वह उसकी भक्ति न करे तो औरों को संशय होगा कि इसकी भक्ति क्यों नहीं की? इसप्रकार उसका मिथ्यादृष्टिपना प्रगट हो, तब संघ में विरोध उत्पन्न हो; इसलिये यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा कथन जानना।

यहाँ कोई प्रश्न करे - सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिंगी को अपने से हीनगुणयुक्त मानता है, उसकी भक्ति कैसे करे?

समाधान - व्यवहारधर्म का साधन द्रव्यलिंगी के बहुत है और भक्ति करना भी व्यवहार ही है। इसलिये जैसे - कोई धनवान हो, परन्तु जो कुल में बड़ा हो उसे कुल अपेक्षा बड़ा जानकर उसका सत्कार करता है; उसी प्रकार आप सम्यक्त्व गुण सहित है, परन्तु जो व्यवहारधर्म में प्रधान हो उसे व्यवहारधर्म की अपेक्षा गुणाधिक मानकर उसकी भक्ति करता है, ऐसा जानना।

इसीप्रकार जो जीव बहुत उपवासादि करे उसे तपस्वी कहते हैं; यद्यपि कोई ध्यान-अध्ययनादि विशेष करता है, वह उत्कृष्ट तपस्वी है; तथापि यहाँ चरणानुयोग में बाह्य तप की प्रधानता है, इसलिये उसी को तपस्वी कहते हैं। इसप्रकार अन्य नामादिक जानना।”<sup>१</sup>

प्रश्न - प्रवचनसार शास्त्र की गाथा २७१ एवं उसकी टीका में

आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र ने तो द्रव्यालिंगी मुनिराज को संसारतत्त्व कहा है - इससे आपके कथन का मेल कैसे बैठेगा?

उत्तर - इस गाथा में संसारतत्त्व के स्वरूप का उद्घाटन किया गया है; जो इसप्रकार है-

जे अजधागहिदत्था, एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।  
अच्चंतफलसंमिद्धं, भमंति ते तो परं कालं ॥२७॥  
(हरिगीत)

अयथार्थग्राही तत्त्व के हों, भले ही जिनमार्ग में।  
कर्मफल से आभरित, भव-भ्रमे भावीकाल में॥

भले ही वे द्रव्यलिंगी मुनिराज, जिनशासन में ही क्यों न हों; तथापि वे 'तत्त्व यह है' - इसप्रकार निश्चयवान वर्तते हुए पदार्थों को अयथार्थ (गलत) रूप में ग्रहण करते हैं; अतः वे अनन्त कर्मफलों से भरे हुए चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करेंगे।”<sup>१</sup>

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जो द्रव्यलिंगी श्रमण, स्वयं के अविवेक से पदार्थों के स्वरूप को अन्यथा ही जानकर, स्वीकार कर 'तत्त्व अर्थात् वस्तुस्वरूप ऐसा ही है' - ऐसा निश्चय करते हुए; निरन्तर एकत्रित किये जानेवाले महा मोहमल से मलिन चित्तवाले होने से नित्य ही अज्ञानी रहते हैं; वे भले ही जिनमार्ग में स्थित हों; तथापि परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वस्तुतः श्रमणाभास ही हैं। अनन्त कर्मफल के उपभोग के भार से भयंकर अनन्त काल तक अनन्त भवान्तररूप परावर्तनों से अनवस्थित वृत्तिवाले रहने से उन द्रव्यलिंगी मुनिराजों को संसारतत्त्व जानना।”



ध्यान रहे कि प्रवचनसार गाथा और टीका में आचार्यद्वय ने द्रव्यलिंगी मुनिराज का स्वरूप बताया है तथा मोक्षमार्गप्रकाशक में उनके साथ श्रावक का व्यवहार कैसा होना चाहिए - इसे स्पष्ट किया है। उसमें परस्पर विरोध नहीं समझना चाहिए।

**प्रश्न - मुनिराज की द्रव्यलिंग अवस्था कौन से गुणस्थान से कौन से गुणस्थान पर्यन्त रहती है ?**

**उत्तर -** मिथ्यात्व गुणस्थान से देशविरत गुणस्थान तक एवं छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान से चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान पर्यन्त द्रव्यलिंग रहता ही है; क्योंकि जो जो भावलिंगी मुनिराज हैं, वे सर्व द्रव्यलिंग सहित ही होते हैं।

**प्रश्न - चौदहवें गुणस्थान में भी द्रव्यलिंग कैसा होता है ?**

**उत्तर -** नग्नपना तो चौदहवें गुणस्थान में भी रहता ही है। नग्नता द्रव्यलिंग का मुख्य चिह्न है।

**प्रश्न - आपने तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक भावलिंगी मुनिराज होते हैं - ऐसा कथन किया है। अब ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त के महामुनिराजों को तो चारों कषाय चौकड़ी का अभाव स्पष्ट है। आपके कथन के साथ ही विरोध आ रहा है। विषय स्पष्ट करें।**

**उत्तर -** ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त के महापुरुष परमगुरु हैं। उन्हें चारों कषाय-चौकड़ी एवं नौ नोकषायों का अभाव रहता है और छठे से दसवें गुणस्थान पर्यन्त के मुनिराजों को तीन कषाय चौकड़ी और यथायोग्य नौ नोकषायों का अभाव रहता है - ऐसा भेद करके यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

प्रसंगवश पाठकों को द्रव्यलिंगी तथा भावलिंगी मुनिराज का यथार्थ ज्ञान हो - इस अभिप्राय से थोड़ा विषयान्तर जानते हुए भी हमने इस प्रकरण को बीच में जोड़ा है।

**नोट -** कृपया अष्टपाहुड़ में भावपाहुड़ गाथा ४४ से आगे का प्रकरण द्रव्यलिंगी-भावलिंगी मुनिराज के लिए अवश्य पढ़ें। ●

## पाँचवाँ अधिकार

### अतीन्द्रिय सुख : पूर्णता की ओर

विगत अधिकार में हमने मुनिराज के छठे प्रमत्तविरत एवं सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान की शुद्धाशुद्धपरिणति को समझ लिया है। उसके पहले प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर पंचम देशविरत गुणस्थान पर्यन्त के विषय को समझने का प्रयास किया जा चुका है।

अब इस अधिकार में सुख/वीतरागता/मोक्षमार्ग पूर्णता की ओर रहता है - इस विषय को समझने का प्रयास करते हैं।

**प्रश्न - श्रेणीगत मुनिराजों की शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग का सम्बन्ध किस प्रकार है ?**

**उत्तर -** श्रेणी में बढ़ती हुई यथायोग्य शुद्धपरिणति कारण है और विशेष शुद्धोपयोग कार्य है; इसीप्रकार वह विशेष शुद्धोपयोग कारण है और बढ़ती हुई शुद्धपरिणति कार्य है; क्योंकि शुद्धोपयोग बढ़ता है तो शुद्धपरिणति भी बढ़ती है। इसी प्रकार शुद्धपरिणति बढ़ती जाती है तो शुद्धोपयोग भी बढ़ता जाता है अर्थात् उसमें स्थिरता भी अधिक होती जाती है। इसी क्रम से पूर्ण वीतरागता के साथ शुद्धोपयोग भी पूर्ण हो जाता है।

**प्रश्न - श्रेणीगत गुणस्थानों में मात्र शुद्धोपयोग ही रहता है, शुद्धपरिणति नहीं - ऐसी मान्यता उचित है क्या? खुलासा कीजिए।**

**उत्तर -** वास्तव में श्रेणीगत गुणस्थानों में शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोगरूप परिणत हो गई है; इसकी मुख्यता से यद्यपि शुद्धपरिणति को गौण करते हुए मात्र शुद्धोपयोग ही है - ऐसा कथन विवक्षावश हो सकता है; तथापि शुद्धपरिणति का सर्वथा निषेध करना उचित नहीं है।

शुद्धोपयोग का आधार/कारण या उसकी नींव तो शुद्धपरिणति ही है। इसलिए श्रेणी में भी शुद्धपरिणति मानना उचित ही है।

यह विषय अलग है कि श्रेणी में वृद्धिगत शुद्धोपयोग एवं वृद्धिगत शुद्ध परिणति की ही मुख्यता रहती है, तभी तो वह पूर्णता को प्राप्त होती है।

अब, इस अधिकार में अतीन्द्रिय सुख, पूर्णता की ओर कैसे अग्रसर होता जाता है? उसे समझना है। अप्रमत्तविरत गुणस्थान के ऊपर मुनिराज, नियम से वृद्धिगत शुद्धोपयोग में रहते हैं।

यहाँ जो मुनिराज प्रमत्त-अप्रमत्तविरत गुणस्थान में झूलते रहते हैं, उनको भी गौण करके जो श्रेणी में विराजमान (आरूढ़) होनेवाले हैं – ऐसे सातिशय अप्रमत्तविरत गुणस्थान (अधःकरण) से आगे बढ़नेवाले मुनिराजों का ही स्वरूप मुख्यता से समझना है।

इसके लिए सबसे पहले हमें वास्तविक अतीन्द्रिय सुख का स्वरूप समझना आवश्यक है।

लौकिक जीवन में बाह्य अनुकूलता को सुख कहते हैं, उसके लिए धन की प्राप्ति को सुख का कारण मानते हैं, उसके द्वारा पाँच इन्द्रियों के विषयों के भोग को सुख समझते हैं। लेकिन धर्म-क्षेत्र में इसे सुख नहीं माना जाता तथा बाह्य अनुकूलता एवं धन-प्राप्ति को भी आकुलता उत्पन्न करनेवाला पुण्योदय ही माना जाता है; क्योंकि ये सर्व कर्मजनित अवस्थाएँ हैं।

धर्म-क्षेत्र में सच्ची निराकुलता को ही सुख कहते हैं। लघु समयसारस्वरूप छहढाला में भी 'आकुलता बिन कहिये' अर्थात् आकुलता के बिना जो आत्मा का परिणाम है, उसे सुख कहा है।

बेचैनी, असन्तोष, अतृप्ति, चाह, अपूर्णता का अनुभव, इन्द्रियों के विषयों की इच्छा – ये सब दुःख के ही अन्य नाम हैं।

इसलिए जिसे लौकिक सुख माना अथवा कहा जाता है, वह सब

दुःख ही है – ऐसा निर्णय करना ही अति आवश्यक है। इसी प्रकार लौकिक जीवन में कषाय के मन्दता के अनुसार कम दुःख हुआ उसे ही सुख कहते हैं।

पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के नौवें अधिकार के प्रारम्भ में ही 'आत्मा का हित मोक्ष ही है' – इस प्रकरण में बहुत ही अच्छा स्पष्टीकरण किया है, उसे यहाँ उपयोगी जानकर दे रहे हैं –

“आत्मा के नाना प्रकार गुण-पर्यायरूप अवस्थाएँ पायी जाती हैं; उनमें अन्य तो कोई अवस्था हो, उससे आत्मा का कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं है; एक दुःख-सुख अवस्था से बिगाड़-सुधार है। यहाँ कुछ हेतु-दृष्टान्त नहीं चाहिए; प्रत्यक्ष ऐसा ही प्रतिभासित होता है।...

...जिनके निमित्त से दुःख होता जानें उनको दूर करने का उपाय करते हैं और जिनके निमित्त से सुख होता जानें उनके होने का उपाय करते हैं।”<sup>१</sup>

...देखो! दुःखी हो, तब सोना चाहता है; वहाँ सोने में ज्ञानादिक मन्द हो जाते हैं, परन्तु जड़ सरीखा भी होकर दुःख को दूर करना चाहता है।

तथा मरना चाहता है; वहाँ मरने में अपना नाश मानता है, परन्तु अपना अस्तित्व खोकर भी दुःख दूर करना चाहता है; इसलिए एक दुःखरूप पर्याय का अभाव करना ही इसका कर्तव्य है।....

....सर्व कार्य जैसे यह चाहे, वैसे ही हों, अन्यथा न हों; तब यह निराकुल रहे, परन्तु यह तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन, किसी द्रव्य के आधीन नहीं है; इसलिए अपने रागादिभाव दूर होने पर निराकुलता हो, सो यह कार्य बन सकता है; क्योंकि रागादिभाव, आत्मा के स्वभावभाव तो हैं नहीं, औपाधिकभाव हैं,

पर-निमित्त से हुए हैं और वह निमित्त, मोहकर्म का उदय है; उसका अभाव होने पर सर्व रागादिक का विलय हो जाये, तब आकुलता का नाश होने पर दुःख दूर हो, सुख की प्राप्ति हो; इसलिये मोहकर्म का नाश हितकारी है।”<sup>१</sup>

अब, हम अपने मूल विषय पर आते हैं - अतीन्द्रिय सुख के साधक, इन सातिशय अप्रमत्तविरत अर्थात् अधःकरण में स्थित मुनिराजों की खास विशेषताएँ हैं -

### १. प्रति समय आत्मा में अनन्तगुणी विशुद्धि -

पहले समय में जितनी मात्रा में विशुद्धि होती है, उससे अनन्तगुणी नई विशिष्ट विशुद्धि दूसरे समय में हो जाती है। इसी प्रकार दूसरे समय की वीतरागता से तीसरे समय की वीतरागता अनन्तगुणी बढ़ जाती है - ऐसा क्रम, अधःकरण-अपूर्णकरण-अनिवृत्तिकरण-सूक्ष्म साम्पराय रूप होता हुआ जब तक वीतरागता, परिपूर्णता को प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक लगातार चलता रहता है।

इस विशुद्धि या विशुद्धता में वृद्धिगत वीतराग परिणाम और घटता हुआ कषाय का अंश, दोनों गर्भित हैं; इसे ही मिश्रधारा भी कहते हैं।

जीव में वीतरागता की अनन्तगुणी वृद्धि एवं कषाय के उत्तरोत्तर हीन होने का यह क्रम, जब तक जीव पूर्ण वीतरागता रूप नहीं परिणमता है, तब तक लगातार चलता ही रहता है।

२. स्थितिबन्धापसरण - सातिशय अप्रमत्तसंयत मुनिराज के राग-द्वेषरूप कषाय परिणाम भी अत्यन्त हीन हो जाते हैं। आगामी अन्तर्मुहूर्त में तो ये मुनिराज श्रेणी पर ही आरूढ़ होनेवाले हैं तथा वर्तमानकाल में भी वीतरागता प्रतिसमय बढ़ ही रही है। अतः नया बँधनेवाला कर्मबन्ध भी उत्तरोत्तर कम स्थिति लेकर बँधता रहता है, इसे ही स्थिति-बन्धापसरण कहते हैं।

३. प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग, प्रतिसमय अनन्त गुणा बढ़ता जाता है।

४. अप्रशस्त (पाप) प्रकृतियों का अनुभाग प्रति समय अनन्त गुणा घटता जाता है।<sup>१</sup>

प्रमत्तसंयत मुनिराज को संज्वलन कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) का नियम से तीव्र-उदय होता है। अप्रमत्तसंयत अवस्था अर्थात् सातवें गुणस्थान में इन्हीं कषायों का यथासम्भव मन्द उदय रहता है।

इस कारण प्रमत्तसंयत मुनिराज की अपेक्षा अप्रमत्तसंयत मुनिराज को अधिक सुख होता है। अपूर्वकरण अवस्था (गुणस्थान) में प्रवेश होते ही संज्वलन कषायों की विशेष अधिक मन्दता होती है। इस कारण शुद्धोपयोग में गाढ़त्वरूप (स्थिरतारूप) और विशेषता आती है।

शुद्धोपयोग की विशेषता/अधिकता से सुख में विकास होना एवं अबुद्धिपूर्वक दुःख में हीनता होना - यह क्रम भी स्वाभाविक ही है।

प्रश्न - प्रमत्तविरत गुणस्थान में शुद्धपरिणति की विभिन्नता होने की बात आपने पूर्व में कही थी। तदनुसार क्या अप्रमत्तविरत गुणस्थान में भी शुद्धपरिणति भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है? यथासम्भव स्पष्ट करें।

उत्तर - अप्रमत्तविरत गुणस्थान के दो भेद हैं - निरतिशय अप्रमत्तविरत और सातिशय अप्रमत्तविरत - इन दोनों की शुद्धपरिणति में तो अन्तर/भेद होता ही है; क्योंकि सातिशय अप्रमत्तविरत गुणस्थान वाले मुनिराज के परिणाम श्रेणी चढ़ने योग्य होने से उनकी विशुद्धि विशेष अधिक होती है।

निरतिशय अप्रमत्तविरतवाले नीचे के छठे गुणस्थान में ही गमन करते हैं; इसलिए उनकी शुद्धपरिणति में विशुद्धि कम रहती है। इसतरह

१. पाठकों को यह विषय विस्तारपूर्वक जानना हो तो उन्हें 'गुणस्थान-विवेचन' के अप्रमत्तविरत गुणस्थान का विवेचन विशेषरूप से पढ़ना चाहिए।

अप्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती मुनिराज की भी शुद्धपरिणतियों में भिन्नता रहती है।

**प्रश्न – सातिशय अप्रमत्तविरत सप्तम गुणस्थानवर्ती अनेक मुनिराजों की शुद्धपरिणति में भी परस्पर हीनाधिकता हो सकती है क्या?**

**उत्तर –** हाँ, सातिशय अप्रमत्तवाले सप्तम गुणस्थानवर्ती अनेक मुनिराजों की शुद्धपरिणति में भी हीनाधिकता हो सकती है; क्योंकि इन मुनिराजों के 'अधःकरण' नामक परिणाम होते हैं। अधःकरण परिणामों की परिभाषा ही ऐसी है कि उपरिम समयवर्ती मुनिराजों के परिणाम और निम्न समयवर्ती मुनिराजों के परिणाम एकसमान भी हो सकते हैं।

जब सभी सातिशय अप्रमत्तविरतवाले मुनिराजों के परिणाम समान नहीं, हीनाधिक भी होते हैं तो ऐसी परिस्थिति में उन मुनिराजों की शुद्धपरिणति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो ही सकती है।

तथा सातिशय अप्रमत्तविरत मुनिराज, अगले अन्तर्मुहूर्त में उपशम या क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होनेवाले हैं तो उनकी शुद्धपरिणति विशेष होना स्वाभाविक है; क्योंकि चारित्रमोहनीयकर्म के उपशम अथवा क्षय करने के लिए अधःकरण परिणामों में अनेक प्रकार के भेद होना स्वाभाविक है।

यदि अधःकरण परिणाम हीनाधिक हैं तो उसके कारणरूप शुद्धपरिणति भी हीनाधिक तो होगी ही – यह विषय सहज ही स्पष्ट है।

**प्रश्न – अपूर्वकरण गुणस्थान में शुद्धोपयोग एवं शुद्धपरिणति का स्वरूप कैसा रहता है?**

**उत्तर –** अपूर्वकरण गुणस्थान, श्रेणी-आरोहण का प्रथम गुणस्थान है; इसमें शुद्धोपयोग एवं शुद्धपरिणति बढ़ती हुई अपूर्व-अपूर्व ही रहती है – यह स्वाभाविक है।

अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रत्येक समय में विशुद्धि बढ़ती ही रहती है, यह अपूर्वकरण गुणस्थान के स्वरूप में गर्भित है। इस अपूर्वकरण परिणाम से चारित्रमोहनीयकर्म का उपशम अथवा क्षय होना, नियम से सतत बना रहता है।

इस कारण अपूर्वकरण परिणामरूप आठवें गुणस्थान की शुद्धपरिणति तो सातवें गुणस्थान की अपेक्षा वृद्धिगत होगी ही और शुद्धोपयोग भी बढ़ता हुआ ही रहेगा।

**ये अपूर्वकरण परिणाम १.** सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय, **२.** अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना के समय, **३.** क्षायिकसम्यक्त्व की प्राप्ति के समय, **४.** उपशमश्रेणी तथा **५.** क्षपकश्रेणी के समय – ऐसे अनेक बार होते हैं।

प्रत्येक कार्य के लिए होनेवाला अपूर्वकरण परिणाम लक्षण की अपेक्षा समान होने पर भी उसका कार्य भिन्न-भिन्न होता है।

**आठवें गुणस्थान में होनेवाला अपूर्वकरण परिणाम, चारित्र-मोहनीयकर्म के उपशम अथवा क्षय के लिए होता है।**

जब आठवें गुणस्थान में अपूर्वकरण परिणाम होता है, तब उसके पूर्व सातवें गुणस्थान में होने वाले आवश्यक विशेष कार्य नियम से होते हैं। शुद्धपरिणति एवं शुद्धोपयोग बढ़ रहा है – इसका अर्थ यह है कि वीतरागता बढ़ रही है। वीतरागता बढ़ रही है – इसका अर्थ है कि सुख भी सहजरूप से बढ़ ही रहा है।

इसके बाद मुनिराज, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करते हैं।

**प्रश्न – अपूर्वकरण गुणस्थान की अपेक्षा अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में शुद्धपरिणति एवं शुद्धोपयोग में वृद्धि होगी या नहीं ?**

**उत्तर –** अवश्य होगी। इसमें क्या पूछना ? यदि गुणस्थान आगे बढ़ रहा है तो इसका अर्थ ही शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग, वीतरागता, अतीन्द्रिय सुख आदि बढ़ ही रहे हैं।

प्रश्न – नौवें गुणस्थान के अनेक मुनिराजों की शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग में हीनाधिकता रहती है या नहीं ?

उत्तर – अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान का स्वरूप ही एकदम भिन्न प्रकार का है। यहाँ तो समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही रहते हैं और असमान समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही रहते हैं; लेकिन प्रति समय शुद्धपरिणति एवं शुद्धोपयोग में नियम से वृद्धि होती ही रहती है।

जब शुद्धपरिणति एवं शुद्धोपयोग दोनों बढ़ते रहते हैं तो सुख भी नियम से बढ़ता ही रहता है।

इसप्रकार अनन्त सिद्धों के सुख में जो समानता का नियम है, उसका प्रारम्भ नौवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही हो जाता है।

यहाँ जो यह समानता का नियम प्रारम्भ हो जाता है, वह अब आगे किसी भी गुणस्थान में छूटता नहीं है अर्थात् ९वें से १४वें गुणस्थान एवं सिद्धों में भी अनन्तकाल तक सुख में परस्पर समानता ही समानता रहती है, असमानता का कुछ काम ही नहीं होता है।

इसका अर्थ यह है कि नौवें गुणस्थान के प्रथम समय में जितने भी मुनिराज रहते हैं; उनकी आपस में परस्पर शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग, वीतरागता और अतीन्द्रिय सुख – इनमें अन्तर या भेद नहीं रहता है।

यद्यपि उनके भी शरीर, आयु अन्य अघातिजन्य औदयिक परिणाम, ज्ञानादि के क्षायोपशमिक परिणामों में तो भेद रह सकता है; लेकिन शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग, वीतरागता एवं सुख में कुछ भी भेद/अन्तर नहीं रहता है।<sup>१</sup>

ध्यान रहे कि ९वें-१०वें गुणस्थान में तो शुद्धता की वृद्धि होती

१. गुणस्थान विवेचन पुस्तक की नौवें गुणस्थान की परिभाषा एवं विशेषताएँ देखिए।

रहती है, लेकिन ११वें से १४वें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म के अभावजन्य शुद्धता में वृद्धि नहीं होती, सामान्य यथाख्यात चारित्र की अपेक्षा एक जैसी शुद्धता रहती है; इसलिए इन चारों गुणस्थानों में सामान्यतः यथाख्यातचारित्र ही माना है।

(विशेष इतना है कि ११वें गुणस्थान में उपशान्तमोह यथाख्यात चारित्र है, १२वें गुणस्थान में क्षीणमोह यथाख्यात चारित्र है, १३वें गुणस्थान में सयोगकेवली को परम यथाख्यातचारित्र है और १४वें गुणस्थान में अयोगकेवली को परम यथाख्यात चारित्र है। इनमें से मात्र ११वें गुणस्थान का ही यथाख्यात चारित्र अधोगामी होता है और क्रमशः १०वें से ६वें गुणस्थान तक आता है, इनमें से किसी का पाँचवाँ, चौथा, तीसरा, दूसरा, या पहला गुणस्थान भी हो जाता है।

प्रश्न – अनिवृत्तिकरण के इस असामान्य परिणाम के कारण दसवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीयकर्म का पूर्ण क्षय या उपशम हो जाता है अथवा कुछ चारित्रमोहनीयजन्य परिणाम शेष भी रहते हैं?

उत्तर – अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के परिणाम के कारण मुनिराज के जीवन में ९वें गुणस्थान तक जो संज्वलन कषाय एवं नोकषाय शेष रहते हैं, उनमें से मात्र सूक्ष्मलोभ ही बचता है; अतः सूक्ष्मलोभ को छोड़कर, कोई कषाय-नोकषाय का उदय शेष नहीं रहता है, शेष सर्व कषायों एवं नोकषायों का क्षय या उपशम हो जाता है।

इसप्रकार पूर्ण वीतरागता में अब मात्र सूक्ष्मलोभ ही बाधकरूप रह जाता है, अन्य सब कषायों-नोकषायों का उपशम अथवा क्षय हो जाता है।

प्रश्न – सूक्ष्मलोभ कषाय का नाश कब होता है?

उत्तर – दसवाँ गुणस्थान सूक्ष्मसाम्पराय का होता है। वहाँ के चारित्र से सूक्ष्मलोभ भी इसी गुणस्थान के अन्त में नाश को प्राप्त होता है।

इसके बाद ११वें-१२वें गुणस्थान में मुनिराज, उपशान्तमोही अथवा क्षीणमोही होकर पूर्ण वीतरागता के साथ पूर्ण सुखी हो जाते हैं।

**प्रश्न - सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में नवीन कर्म के बन्ध का क्या स्वरूप है? कितने घातिकर्म बँधते हैं और कितने अघाति?**

**उत्तर -** सूक्ष्मसाम्परायरूप कषाय परिणाम के कारण ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, मात्र इन तीन ही घातिकर्मों का और सातावेदनीय, उच्चगोत्र एवं यशःकीर्ति नामक नामकर्म का ही बन्ध होता है।

**प्रश्न - सूक्ष्मसाम्पराय तो मोहपरिणाम का नाम है। यदि जीव, मोहपरिणाम करता है तो उसे नवीन मोह का बन्ध होना ही चाहिए, परन्तु यहाँ नये मोह का बन्ध क्यों नहीं होता?**

**उत्तर -** आपकी शंका स्वाभाविक है; तथापि इस सम्बन्ध में सर्वज्ञ भगवान ने आगम में क्या उपदेश दिया है - यह देखना भी अति महत्वपूर्ण है।

सूक्ष्मलोभ परिणाम, जघन्य परिणाम होने के कारण, इस जघन्य सूक्ष्मलोभरूप परिणाम के निमित्त से ज्ञानावरणादि तीन घातिकर्मों का बन्ध तो होता है; लेकिन इस गुणस्थानवर्ती मुनिराज का सूक्ष्मलोभ, नये लोभ अथवा किसी भी मोहनीय कर्म का बन्ध करने में समर्थ नहीं है। जैसे, जघन्यस्निग्धरूप स्पर्शगुण से परिणत परमाणु अन्य परमाणु अथवा स्कन्ध से बँधने में समर्थ नहीं है।<sup>१</sup>

**प्रश्न - जिस तरह अभी आपने चारित्रमोहनीयकर्म के जघन्य परिणाम से परिणत सूक्ष्मलोभ कषाय की बात कही, उसी तरह दर्शनमोहनीयकर्म की भी कुछ बात है क्या?**

१. पंचास्तिकाय गाथा १०३ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका।

**उत्तर -** हाँ, है। दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद हैं - १. मिथ्यात्व २. सम्यग्मिथ्यात्व और ३. सम्यक्प्रकृति। इन तीनों में एक सम्यक्प्रकृति भी दर्शनमोहनीय का ही एक भेद है।

यह सम्यक्प्रकृति भी देशघाति होते हुए अपने को नहीं बाँधती। यह सम्यक्प्रकृति कर्म भी जघन्य गुण से परिणत होने के कारण किसी भी मोहनीयकर्म को नहीं बाँधती।

**जीव, सूक्ष्मलोभरूप मोह परिणाम करे तो भी नया मोहकर्म का बन्ध नहीं होने की बात अति महत्वपूर्ण है। इसी नैसर्गिक/प्राकृतिक व्यवस्था के कारण सतत् कर्मबन्ध होने की पुरानी परम्परा टूटती है और मोक्षमार्ग विशिष्टरूप से वृद्धिगत होता हुआ पूर्ण होता है।**

यदि ऐसी व्यवस्था नहीं होती अर्थात् नया मोह परिणाम होता रहता और नया मोहनीयकर्म का बन्ध भी होता ही रहता तो कर्म-बन्ध की अनादि-परम्परा टूटने का कभी भी अवसर जीव को प्राप्त न होने के कारण संसार का अभाव होने का सुअवसर भी जीव को प्राप्त होना अशक्य हो जाता।

**वस्तु-व्यवस्था में भी संसार से मुक्त होने का यह सुवर्ण अवसर है, इसीलिए मोक्षमार्ग पूर्ण होते हुए जीव को मुक्ति की प्राप्ति भी सहज हो जाती है।**

**अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।**

**तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥**

निश्चय से रागादि भावों का प्रकट न होना यही अहिंसा है और उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है, ऐसा जैन सिद्धान्त का सार ह निचोड़ है।

**-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पृष्ठ-८२**

## छठवाँ अधिकार पूर्ण सुख

वास्तविक सच्चा सुख (निराकुल सुख), सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के साथ ही चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है। वीतरागता की उत्पत्ति अर्थात् सुख का प्रारम्भ कहो अथवा धर्म की शुरुआत कहो, सबका अर्थ एक ही है, क्योंकि धर्म और सुख भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

सुख की वृद्धिगत विशेष अवस्थाएँ निम्नप्रकार हैं -

१. चौथे गुणस्थान से आत्मिक/स्वाश्रित सुख प्रारम्भ हो जाता है।
२. पंचम देशविरत गुणस्थान में वह सुख, चौथे गुणस्थान की अपेक्षा अधिक हो जाता है।
३. पश्चात् छठवें प्रमत्तविरत में सुख और अधिक हो जाता है।
४. निरतिशय अप्रमत्तविरत गुणस्थान में सुख और प्रचुर होता है।
५. सातिशय अप्रमत्तविरत गुणस्थान में शुद्धोपयोग की विशेषता होने से अधःकरण अवस्था होने पर सुख में, और अधिक वृद्धि हो जाती है।
६. अपूर्वकरण गुणस्थान में अतीन्द्रिय आत्मिक सुख, विशेषरूप से और अधिक बढ़ता ही जाता है, सुख अपूर्व-अपूर्व ही होता है।
७. पश्चात् अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में वीतरागता एवं सुख, प्रतिसमय निश्चितरूप से बढ़ता ही जाता है।
८. इसके आगे दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक सुख और वीतरागभाव दोनों बढ़ते ही जाते हैं।

९. आगे ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में सुख और वीतरागता - दोनों पूर्ण हो जाते हैं।

इसलिए हमने पिछले अधिकार का नाम 'सुख, पूर्णता की ओर' - ऐसा रखा है और इस अधिकार का नाम 'पूर्ण सुख' - ऐसा रखा है।

प्रश्न - ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान के पहले समय में सुख पूर्ण हो जाता है तो क्या आगे सुख बढ़ता नहीं है; ग्यारहवें आदि गुणस्थानों से आगे भी सुख बढ़ना चाहिए; अतः 'सुख बढ़ता ही जाता है' - ऐसा कहने में क्या आपत्ति है?

उत्तर - जब तक मोह परिणाम कम होता जाता है, तब तक ही सुख बढ़ता जाता है - ऐसा कथन का व्यवहार होता है।

ग्यारहवें गुणस्थान के आगे मोह परिणाम का पूर्ण अभाव अर्थात् पूर्ण वीतरागता हो जाती है; इसलिए ग्यारहवें गुणस्थान के पूर्व ही वीतरागता बढ़ती जाती है और सुख भी बढ़ता जाता है, आगे नहीं; तथापि अरहन्त दशा होने पर सुख अनन्त हो जाता है, इस अपेक्षा से सुख में भी वृद्धि होती जाती है - ऐसा समझना, शास्त्र-सम्मत है।

प्रश्न - यद्यपि उपशान्तमोही मुनिराज, पर्याय में पूर्ण वीतरागी हो गये हैं, यह बात पूर्णतया सही है; तथापि उनको मोहकर्म की सत्ता तो है ही। फिर मोहकर्म की सत्ता होने पर भी मुनिराज को पूर्ण सुखी समझना/कहना उचित कैसे होगा?

उत्तर - सत्ता में स्थित कर्म, जीव के विकारी परिणामों में निमित्त नहीं होते; इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्ता में स्थित कर्म को मिट्टी के ढेले के समान कहा है।<sup>१</sup>

इस कारण ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को मोह की सत्ता होने पर भी उस सत्ता में स्थित कर्म से जीव का कुछ बिगाड़-सुधार नहीं है।

प्रश्न – सत्ता में स्थित कर्म से कुछ भी बिगाड़ या सुधार नहीं है – यह विषय अभी पूर्ण स्पष्ट नहीं हुआ, उदाहरण से स्पष्ट करें।

उत्तर – जैसे, तीर्थंकर होनेवाले श्री पार्श्वनाथ मुनिराज पर जब दुष्ट कमठ उपसर्ग कर रहा था तब (उससमय) पार्श्वनाथ मुनिराज को तीर्थंकर प्रकृति नामक कर्म की सत्ता थी या नहीं थी? समाधान सहज ही यह मिलेगा कि तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता थी।

अब यहाँ फिर प्रश्न हो सकता है कि सत्ता में स्थित उस तीर्थंकर-प्रकृति नामक कर्म ने पार्श्वनाथ मुनिराज को उपसर्ग के काल में कुछ मदद क्यों नहीं की?

इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि सत्ता में पड़ा हुआ कर्म जीव को फल नहीं देता।

इसीप्रकार उपशान्तमोही जीव को सत्ता में स्थित मोहनीयकर्म कुछ भी दुःख नहीं देता।

प्रश्न – उपशान्तमोही मुनिराज का मोहनीयकर्म तो उपशमित (दबा) हुआ है; परन्तु अन्य सात कर्मों की सत्ता और उदय भी है तो मुनिराज को पूर्ण सुखी कैसे माना जा सकता है?

उत्तर – समझ में न आने लायक इसमें कुछ खास कठिन विषय नहीं है; क्योंकि हम अनेक बार कह चुके हैं कि जीव को दुःख होने में निमित्त तो मात्र मोहकर्म का उदय एवं साक्षात् उपादान कारण स्वयं मोहपरिणाम ही है। अन्य किसी भी कर्म का उदय अथवा परिणाम, दुःख का कारण नहीं है।

उपशान्तमोही मुनिराज को न मोहकर्म का उदय है और न मोह-परिणाम; इसलिए वे उपशान्तमोही मुनिराज पूर्ण सुखी हैं।

प्रश्न – अन्य अघाति कर्मों का उदय दुःख में कारण नहीं है तो उनका नाश क्यों करना चाहिए। उनको रहने देने में क्या नुकसान है?

इस प्रश्न का उत्तर हम पण्डित प्रवर श्री टोडरमलजी के शब्दों द्वारा देना चाहते हैं – ‘मोह के उदय का नाश होने पर भी अघाति कर्मों का उदय रहता है – वह कुछ भी आकुलता उत्पन्न नहीं कर सकता; परन्तु पूर्व में आकुलता का सहकारी कारण था, इसलिए अघाति कर्मों का नाश आत्मा को इष्ट ही है। केवली का इनके होने पर भी कुछ दुःख नहीं है। इसलिए इनके नाश का उद्यम नहीं है; परन्तु मोह का नाश होने पर यह कर्म अपने आप थोड़े ही काल में सर्व नाशको प्राप्त हो जाते हैं।’

वास्तविक स्वरूप तो यह ही है कि नये कर्म के बन्ध में भी मात्र मोहपरिणाम ही निमित्त है, अन्य कोई कर्म या परिणाम, कारण या निमित्त नहीं है।

वस्तु के स्वरूप में यह अचरज की ही तो बात है कि सात कर्मों की सत्ता हो, उनका उदय भी हो तो भी नवीन कर्म का बन्ध नहीं होता है; इसलिए आठ कर्मों में मोहनीयकर्म को ‘कर्मों का राजा’ कहा गया है तथा आत्मा के ‘विकारी परिणामों का राजा’ मोहपरिणाम को माना गया है।

प्रश्न – उपशान्तमोही मुनिराज, नियम से नीचे के गुणस्थानों में पतित होते हैं, कदाचित् मिथ्यादृष्टि भी हो सकते हैं; इतना ही नहीं, कदाचित् अनेक भवों के बाद कालान्तर में निगोद अवस्था को भी प्राप्त होते हैं; तथापि आप उनको पूर्ण सुखी कह रहे हो – यह सब समझ में नहीं आता; जरूर, कुछ गड़बड़ है, यह सब असत्य जैसा प्रतीत होता है।

उत्तर – उपशान्तमोही मुनिराज नियम से पतित होते हैं, कदाचित् मिथ्यादृष्टि भी हो सकते हैं, कालान्तर में संसार अवस्था के अधिक भव बाकी रहने पर निगोद अवस्था की प्राप्ति की भी सम्भावना हो सकती है।

यद्यपि यह सब विषय जिनवाणी में आया है; तथापि वर्तमान में जो उपशान्तमोह अवस्था है, उसमें वीतरागता पूर्ण है, सुख भी पूर्ण हैं,



इसका भी निषेध नहीं हो सकता। यही कारण है कि ग्यारहवें गुणस्थान से चारित्र की 'यथाख्यात चारित्र' संज्ञा आगम में वर्णित है।

यह उपशान्तमोह अवस्था भी पर्यायगत सत्य है और उनका पूर्ण सुखी होना भी तर्क एवं आगम-प्रमाण से सत्य है।

देखो! एक अन्तर्मुहूर्त के बाद ही उपशान्तमोही मुनिराज, पतित होनेवाले हैं; तथापि अभी पूर्ण वीतरागी एवं पूर्ण सुखी हैं - इसका निषेध भी कैसे सम्भव है?

भविष्य की पतित अवस्था के कारण वर्तमानकालीन पर्यायगत परमसत्य अवस्था का भी निषेध नहीं हो सकता।

प्रश्न - जैसे, उपशान्तमोही मुनिराज पूर्ण सुखी हैं, वैसे अन्य भी कोई मुनिराज पूर्ण सुखी हैं क्या?

उत्तर - हाँ, पूर्ण सुखी अन्य मुनिराज भी हैं, जिनका नाम क्षीणमोही जिन है, इनका गुणस्थान बारहवाँ है। ये मुनिराज ऐसे पूर्ण सुखी हैं कि इनका पूर्ण सुख, अब लघु अन्तर्मुहूर्त में ही अनन्त सुख में परिवर्तित होनेवाला है।

ये क्षीणमोही मुनिराज, अब नियम से चार क्षुद्रभव जितना काल व्यतीत होने के बाद अरहन्त परमेष्ठी ही बनेंगे; क्योंकि क्षीणमोही अवस्था का नाश होकर केवलज्ञानी अरहन्त भगवान होने का त्रैकालिक नियम है।

प्रश्न - उपशान्तमोही एवं क्षीणमोही मुनिराज के पूर्ण सुख में कुछ अन्तर अर्थात् हीनाधिकता भी सम्भव है क्या? स्पष्ट करें।

उत्तर - दोनों के वर्तमानकालीन पूर्ण सुख में कुछ भी अन्तर/भेद/हीनाधिकता नहीं है - ऐसा ही आगमसिद्ध वचन है।

प्रश्न - उपशान्तमोही मुनिराज का मोहनीयकर्म दबा हुआ है और क्षीणमोही मुनिराज का मूलतः पूर्णरूप से नष्ट हो गया है; इसलिए उनमें कुछ अन्तर होना चाहिए - ऐसा लगता है?

उत्तर - वर्तमान सुख में कुछ भी अन्तर नहीं है। जहाँ एक मुनिराज को मोहनीयकर्म के पूर्ण उपशम (दब जाने) से पूर्ण वीतरागता प्रगट हो गयी है तो दूसरे मुनिराज का मूल से ही मोहनीयकर्म सर्वथा नष्ट होने से पूर्ण वीतरागभाव प्रगट हो गया है।

यद्यपि वर्तमानकाल में उन दोनों की प्रगट वीतरागता में कुछ भी भेद नहीं है; इसलिए उनके सुख में भी अन्तर/भेद नहीं है; क्योंकि दोनों को यथाख्यातचारित्र प्राप्त है; तथापि दोनों के भविष्य के कार्य जरूर अलग-अलग हैं।

उपशान्तमोही मुनिराज नियम से पतित ही होंगे और क्षीणमोही मुनिराज नियम से अरहन्त भगवान ही बनेंगे - यह नियम है।

प्रश्न - उक्त पूर्ण सुख का भोग भोगते हुए पूर्ण सुखी मुनिराजों का मरण भी हो सकता है क्या?

उत्तर - पूर्ण सुख भोगनेवाले मुनिराजों में जो ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्तमोही मुनि महाराज हैं; उनका कदाचित् मरण भी हो सकता है।

जबकि क्षीणमोही बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों का सांसारिक मरण होता ही नहीं; क्योंकि ये क्षीणमोही मुनिराज नियम से अरहन्त अर्थात् सयोगकेवली बनकर नियम से मोक्ष की ही प्राप्ति करते हैं।

प्रश्न - ११वें-१२वें गुणस्थानवर्ती दोनों मुनिराज पूर्ण सुखी होने पर भी इनमें मरण की अपेक्षा यह अन्तर क्यों है?

उत्तर - उन-उन मुनिराज की पर्यायगत पात्रता अर्थात् पर्यायगत स्वभाव में ही यह अन्तर होता है, क्योंकि स्वभाव में कुछ भी तर्क नहीं चलता, उसे सहजता से स्वीकारना ही उचित है।

प्रश्न - ११वाँ गुणस्थान उपशान्तमोह एवं १२वाँ गुणस्थान क्षीणमोह है - क्या इन दोनों गुणस्थानों में शुद्धोपयोग, वीतरागता एवं सुख - ये समान ही रहते हैं?

उत्तर – हाँ, इन दोनों गुणस्थानों के शुद्धोपयोग, वीतरागता एवं सुख – इन तीनों में समानता ही रहती है – ऐसा ही आगम-वचन है।

इस तरह जो निराकुल सुख, सम्यक्त्व के साथ चौथे गुणस्थान में व्यक्त हो जाता है; वह पाँचवें-छठे गुणस्थानों में बढ़ता ही जाता है। तदनन्तर वही निराकुल सुख, सातवें गुणस्थान में आत्मा के प्रचुर स्वसंवेदन के कारण अत्यधिक बढ़ जाता है।

उसके बाद आगे के गुणस्थानों में मुनिराज, नियम से श्रेणी पर ही आरूढ़ हो जाते हैं। श्रेणी के गुणस्थानों में क्रमशः सुख बढ़ता ही जाता है और बढ़ते-बढ़ते ११वें-१२वें गुणस्थान के प्रथम समय से पूर्ण वीतरागता प्रगट होने के कारण सुख भी पूर्ण प्रगट हो जाता है।

प्रश्न – इस सुख को पूर्ण क्यों कहते हैं? अनन्त सुख क्यों नहीं कहते? जब पूर्ण वीतरागता प्रगट हो जाती है अर्थात् मोह किंचित् भी नहीं रहता तो सुख अनन्त होता है – ऐसा कहना/मानना चाहिए, परन्तु आप उसे पूर्ण सुख ही कह रहे हैं? इसका कारण क्या है? इस अवस्था का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर – पूर्ण वीतरागता होने पर सुख पूर्ण ही होता है, अनन्त नहीं; क्योंकि पूर्ण वीतरागी मुनि महाराज के जीवन में अभी तीन घातिकर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म) विद्यमान हैं।

देखो! ज्ञानावरणकर्म के सर्वथा नाश होने पर अनन्तज्ञान, दर्शनावरण-कर्म के सर्वथा नाश होने पर अनन्तदर्शन; अन्तरायकर्म के सर्वथा नाश होने पर अनन्तवीर्य प्रगट होता है; अतः उन अनन्त-ज्ञान-दर्शन-वीर्य के साथ होनेवाले सुख की ही अनन्त सुख संज्ञा सार्थक है।

प्रश्न – इन तीन घातिकर्मों के नाश के लिए कितनी देर लगती है? उसके लिए उन वीतरागी सन्तों को और क्या करना आवश्यक होता है?

उत्तर – उसके लिए पूर्ण वीतरागता के साथ क्षपक श्रेणी पूर्ण करने वाले क्षीणमोही मुनिराज को एक अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त 'एकत्ववितर्क शुक्लध्यान' करना आवश्यक होता है।

देखिए! मुनिराज, वीतराग होने के बाद ही सर्वज्ञ होते हैं – यह सामान्य कथन है और यथार्थ में पूर्ण वीतराग होने पर भी एक अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त 'एकत्ववितर्क-शुक्लध्यान' रूप उत्कृष्ट शुद्धोपयोग करने के बाद ही तीन घातिकर्मों का क्षय होने पर १३वें गुणस्थान में ही वे सर्वज्ञ होते हैं – यह कथन विशेष तथा सूक्ष्म है।<sup>१</sup>

प्रश्न – उपशान्तमोही मुनिराज मुक्त होने के पहले कितनी बार इस ११वें गुणस्थान में आ सकते हैं? क्या ऐसा कुछ नियम है? यदि हाँ, तो स्पष्ट करें।

उत्तर – मोक्ष-प्राप्ति के पहले कोई भी भव्य जीव, अधिक से अधिक चार बार उपशान्तमोह गुणस्थान की प्राप्ति कर सकता है; उसमें भी विशेष नियम यह है कि एक भव में अधिक से अधिक दो बार ही उपशान्तमोह गुणस्थान की प्राप्ति हो सकती है, इससे अधिक नहीं।

प्रश्न – मुनिराजों को जहाँ से नियम से पतन हो – ऐसे उपशमश्रेणी में चढ़नेरूप हीन पुरुषार्थ करना ही नहीं चाहिए, उनको तो क्षपकश्रेणी पर ही चढ़कर, उसी भव में मुक्त होने का सर्वोत्तम कार्य करना चाहिए, क्योंकि जहाँ से पतन हो, उस मार्ग को चुनना ही गलत है; वे ऐसा हीन कार्य क्यों करते हैं?

उत्तर – देखिए! श्रेणी चढ़ने का कार्य, कुछ अपने विकल्पपूर्वक नहीं होता। जो होना होता है, वही होता है। मुनिराज तो शुद्धोपयोग में/निज शुद्धात्मा में मग्न रहते हुए प्रचुर आनन्द का रसास्वादन करते हैं। वे अपने मन से बुद्धिपूर्वक श्रेणी का चुनाव करके, क्षपक या उपशम-श्रेणी में आरोहण का कार्य नहीं करते।

क्षपकश्रेणीपूर्वक क्षीणमोह गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग का पुरुषार्थ न होने के कारण उपशान्तमोह गुणस्थान प्रगट होता है।

प्रश्न – एक, दो अथवा चार बार उपशमश्रेणी चढ़ने के बाद ही क्षपकश्रेणी चढ़ सकते हैं – ऐसा कुछ नियम भी है क्या? अथवा उपशम श्रेणी वालों को क्षपकश्रेणी चढ़ने में कुछ अनुकूलता होती है क्या?

उत्तर – ऐसा कोई नियम नहीं है। अनेक मुनिराज उपशमश्रेणी पर आरूढ़ हुए बिना ही सीधा क्षपकश्रेणी पर आरोहण करते हुए केवलज्ञानी एवं मुक्त हो सकते हैं।

प्रश्न – जो उपशमश्रेणी से नीचे गिरते हुए मिथ्यात्व गुणस्थान में आकर निगोद में भी चले जाते हैं, उनका पूर्ण सुख क्या सर्वथा नष्ट हो जाता है? अथवा श्रेणी चढ़नेरूप कार्य का कुछ लाभ उन्हें निगोदादि निम्न अवस्थाओं में भी होता रहता है क्या?

उत्तर – जो जीव, उपशमश्रेणी से पतित होकर नरक-निगोदादि पर्याय में जाते हैं, वे अनादि-मिथ्यादृष्टि न होकर भी उनके समान ही दुःखी होते हैं।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उपशमश्रेणी वाले जीव, किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्तनकाल से अधिक संसार में नहीं रहते, अतः उनकी उसके पूर्व ही निगोद अवस्था छूट जाती है और वे निश्चितरूप से मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

मोक्षमार्ग-प्रकाशक शास्त्र में पण्डित टोडरमलजी ने 'देखो! परिणामों की विचित्रता' के प्रकरण में पृष्ठ २६६ पर लिखा है – "बहुत काल तक मिथ्यात्व का उदय रहे तो जैसी अनादि मिथ्यादृष्टि की दशा होती है, वैसी इसकी भी दशा हो जाती है। गृहीत मिथ्यात्व को भी वह ग्रहण करता है और निगोदादि में भी रुलता है।"<sup>१</sup>

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २६६

प्रश्न – उपशान्तमोही मुनिराज के पतित होने के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्रदान कीजिए?

उत्तर – उपशान्तमोही मुनिराज इस गुणस्थान से अवश्य पतित होते हैं – यह त्रैकालिक सत्य है। लेकिन इस विषय को लेकर 'कर्म बलवान' हैं या 'कर्म के सामने जीव का कुछ नहीं चलता' इस सम्बन्ध में खुलासा निम्नप्रकार है –

१. उपशान्तमोही मुनिराज, ११वें से १०वें आदि गुणस्थानों में पतित होते हुए क्रम से प्रमत्तविरत गुणस्थान पर्यन्त तो नियम से पतित होते ही हैं।
  २. छठवें प्रमत्तविरत गुणस्थान में आकर, वे फिर से सातवें-छठे गुणस्थान में झूलते हुए जीवन पूर्ण कर सकते हैं।
  ३. अथवा वे फिर से एक बार उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी में आरोहण कर सकते हैं।
  ४. अथवा छठवें से नीचे के गुणस्थानों में भी उनका गमन हो सकता है।
- ग्यारहवें गुणस्थान के सम्बन्ध में विशेष –

मुनिराज के उपशमश्रेणी से पतित होने के विषय में हमें बहुत सावधानीपूर्वक निर्णय करना चाहिए। व्यवहारनय के कथन को सत्यार्थ मानकर, अज्ञानी जीव जिनवाणी का ही आधार लेकर अपने मिथ्यात्व को पुष्ट करते हैं।

इसलिए उपशान्तमोही मुनिराज का पतन क्यों होता है; इस विषय का हमें बहुत सावधानीपूर्वक निर्णय करना चाहिए।

ग्यारहवें गुणस्थान का स्वरूप यथार्थरूप से समझने हेतु सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्रकृत लब्धिसार, गाथा ३१० की संस्कृत टीका का पण्डितप्रवर टोडरमलजीकृत अनुवाद निम्नानुसार है –

“बहुरि या प्रकार संक्लेश-विशुद्धता के निमित्त करि उपशान्त-कषाय तैं पड़ना-चढ़ना न हो, जातैं तहाँ परिणाम अवस्थित विशुद्धता लिए वर्तैं हैं।”

इसप्रकार यहाँ बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि उपशान्तमोही जीव का संक्लेश-विशुद्धता से गिरना-चढ़ना नहीं होता है; क्योंकि वहाँ परिणाम अवस्थित विशुद्धता सहित रहते हैं।

आशय यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान का जितना यथायोग्य अन्तर्मुहूर्त काल है, उतने काल में प्रति समय पूर्ण वीतरागता है; वीतरागता में कुछ हीनाधिकपना नहीं है।

ग्यारहवें गुणस्थान के पहले समय से लेकर अन्तिम समय पर्यन्त चारित्रमोहनीयकर्म का उपशम होने से वहाँ की विशुद्धता में भेद होने में कोई निमित्त नहीं है। उपशान्तमोही गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त काल के आदि, मध्य या अन्त में समान वीतरागता रहती है।

फिर भी जिज्ञासु के मन में शंका उत्पन्न हो ही जाती है कि उपशान्त-मोह गुणस्थान से पतित होने का कुछ न कुछ कारण तो होना ही चाहिए। इसका समाधान पण्डित टोडरमलजी के ही शब्दों में इसप्रकार है -

“बहुरि तहाँ तैं जो पड़ना हो है सो तिस गुणस्थान का काल पूरा भए पीछे नियम तैं उपशमकाल का क्षय होई, तिसके निमित्त तैं हो है”

संक्षेप में यहाँ इतना ही समझाया गया है कि चारित्रमोहनीयकर्म के उपशमकाल का क्षय होने से ही उपशान्तमोही मुनिराज नीचे दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में आते हैं। वे आगे लिखते हैं -

“विशुद्ध परिणामनि की हानि के निमित्त तैं तहाँ (उपशान्तमोह) तैं नाहीं पड़े वा अन्य कोई निमित्त तैं नाहीं पड़े हैं; ऐसा जानना।”

इसमें भी संक्लेश-विशुद्ध परिणाम का निमित्तपना नहीं है - यह बताया है और कर्म की निमित्तता का भी निषेध किया है; क्योंकि मुनिराज जब तक उपशान्तमोह गुणस्थान में रहते हैं, तब तक तो किसी भी चारित्र-मोहनीयकर्म के उदय का निमित्तपना बनता ही नहीं।

जब सूक्ष्म लोभकषाय के उदय का निमित्त बनता है, तब ग्यारहवाँ गुणस्थान ही नहीं रहता, दसवाँ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान हो जाता है। अतः उपशान्तमोही मुनिवर, कर्म के कारण नीचे के गुणस्थान में आये, यह व्यवहार भी नहीं बन सकता; अतः एकमात्र काल-क्षय ही नीचे के गुणस्थान में आने का कारण है।

प्रश्न - क्या ग्यारहवें गुणस्थान में मुनिराज का मरण नहीं हो सकता ?

उत्तर - उपशान्तमोह गुणस्थानवर्ती मुनिराज का अन्तर्मुहूर्त काल में से किसी भी समय में मरण हो सकता है। ग्यारहवें गुणस्थान की शुद्धोपयोगरूप (ध्यानरूप) अवस्था में मरण तो होता है और तदनन्तर तत्काल ही विग्रहगति के प्रथम समय में चौथा गुणस्थान हो जाता है और वे मुनिराज, देवगति की वैमानिक देव पर्याय में सौधर्मस्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त कहीं भी जन्म ले सकते हैं।

प्रश्न - यदि मरण को भी उस गुणस्थान से गिरने का कारण मानें तो फिर उपशान्तमोह से गिरने के कारण भी दो हो गए। मात्र एक कालक्षय ही नहीं रहा ?

उत्तर - आपका कहना सही है। यदि मरण की अपेक्षा भी लेते हैं तो उपशान्तमोह से गिरने के दो कारण सिद्ध हो जाते हैं - १. काल-क्षय और २. भव-क्षय।

लेकिन तब भी सामान्य कारण तो एक मात्र काल-क्षय ही है; क्योंकि भव-क्षयरूप कारण तो कदाचित् किसी मुनिराज के ही होता है तथा उपशमश्रेणी के अन्य गुणस्थानों में भी मरण हो सकता है। ●

## सातवाँ अधिकार अनन्त सुख

तेरहवें गुणस्थान में अरहन्त भगवान को शुद्धोपयोग का फल-केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है; इसलिए यहाँ शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग अथवा मिश्रभाव का कुछ प्रयोजन नहीं रहता है।

**प्रश्न – आप हमें स्पष्ट बताइए कि सयोग-अयोग केवलियों को शुद्धपरिणति एवं शुद्धोपयोग होता है अथवा नहीं?**

**उत्तर –** यहाँ जीव की अल्पज्ञ अवस्था नहीं होने के कारण कोई भी उपयोग (शुद्ध-अशुद्ध उपयोग अथवा शुभोपयोग-अशुभोपयोग-शुद्धोपयोग) नहीं माना गया ही है, क्योंकि व्यक्त प्रगट ज्ञान को बुद्धिपूर्वक किसी विषय में जोड़ने को 'उपयोग' कहते हैं।

यहाँ तेरहवें गुणस्थान में ज्ञानपर्याय पूर्णरूप से व्यक्त होने के कारण केवलज्ञानरूप/सर्वज्ञरूप परिणामित हो जाती है, अतः उन्हें उपयोग/ज्ञान को किसी विशिष्ट विषय में जोड़ने का प्रयोजन ही नहीं रहता है; इसलिए उनके उक्त कोई भी उपयोग नहीं रहता।

साथ ही कषाय के अभावपूर्वक व्यक्त होनेवाली वीतरागता अर्थात् चारित्रगुण की निर्मल पर्याय को 'शुद्धपरिणति' कहते हैं।

जबकि केवलज्ञान की पर्याय व्यक्त होने के पहले क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान में ही क्षायिक यथाख्यात चारित्र प्रगट हो जाता है; इसलिए यहाँ चारित्र पहले से ही परिपूर्ण व्यक्त होने के कारण वहाँ 'शुद्धपरिणति' कहने का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता है।

उपयोग, सहज ही निज शुद्धात्मा में संलग्न है, इस कारण सहज ही शुद्धभाव रहता है; तथापि शुद्धोपयोग के फलरूप कार्य केवलज्ञान के

व्यक्त हो जाने के कारण वहाँ 'शुद्धोपयोग है' – ऐसा व्यवहार नहीं बनता।

**प्रश्न – शुद्धपरिणति तथा शुद्धोपयोग का व्यवहार कब तक बनता है? कहाँ तक यह व्यवहार होता है?**

**उत्तर –** आत्मा, जब तक केवलज्ञानी नहीं बनता, तब तक ही शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति का कथन-व्यवहार होता है अर्थात् क्षीणमोह गुणस्थान के अन्तिम समय तक शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग का व्यवहार होता है।

जहाँ शुद्धोपयोग के फलस्वरूप केवलज्ञान प्रगट हो गया, फिर वहाँ शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग के व्यवहार को अवकाश ही नहीं रहा।

हमने सयोग एवं अयोगकेवलियों को व्यक्त होनेवाले अनन्त सुख को जान लिया। इस अनन्त सुख में हीनाधिकता नहीं होती। एक बार जिसे अनन्तरूप सुख प्रगट हो गया, वह अब भविष्य में भी अनन्त काल पर्यन्त वैसा ही अनन्त सुखरूप रहेगा।

भविष्य में सिद्ध होने पर वही अनन्त सुख वेदनीयकर्म के अभाव के साथ अव्याबाध अनन्त सुख कहलाता है अर्थात् अरहन्त भगवान को भी यद्यपि मोहनीयकर्म के अभाव से अनन्त सुख तो है, परन्तु अव्याबाधत्व नहीं है, परन्तु सिद्धों को वेदनीयकर्म का अभाव होने पर वह अनन्त सुख, अव्याबाध अनन्त सुखरूप हो जाता है – ऐसा कह सकते हैं।

पूर्ण वीतरागता के साथ एक अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने के बाद महामुनीश्वरों को केवलज्ञान की सहज ही प्राप्ति होती है। केवलज्ञान स्वयं अनन्तरूप होने के कारण पूर्ण सुख ही अनन्त सुखरूप में परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि पूर्ण शुद्धोपयोग का फल साक्षात् केवलज्ञान है।

**प्रश्न – पूर्ण वीतरागियों का पूर्ण सुख अनन्त सुखरूप किस कारण से बदल गया?**

**उत्तर –** १२वें गुणस्थान में पूर्ण वीतरागियों को अल्पज्ञान/क्षायोपशमिक ज्ञान होता है; उस अल्पज्ञान का व्यय होने पर केवलज्ञान अर्थात् अनन्त ज्ञान उत्पन्न होता है।

तात्पर्य यह है कि पूर्ण वीतराग अवस्था में जो सुख पूर्णरूप से व्यक्त हुआ है उसे जानने वाला ज्ञान सीमित/मर्यादित है अर्थात् अनन्त नहीं है, क्योंकि वहाँ अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य होने में बाधक ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म विद्यमान है; इन तीनों घाति कर्मों का सर्वथा नाश हो जाने पर अल्पज्ञान आदि का व्यय/नाश हो जाता है और ज्ञानादि, अनन्तरूप से परिणत हो जाते हैं; अतः ज्ञानादि की अनन्तता के कारण सुख भी सहज ही अनन्तरूप हो जाता है।

**प्रश्न – क्या यह अनन्त सुख, मात्र तीर्थकर केवली भगवान को ही होता है?**

**उत्तर –** नहीं, नहीं। जो-जो मुनिराज तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त करते हैं, उन सभी महामुनिराजों को अनन्त सुख होता है अर्थात् सामान्य केवली, पाँच कल्याणकवाले तीर्थकर केवली, तीन या दो कल्याणकवाले विदेह क्षेत्रस्थ तीर्थकर केवली, अन्तःकृत केवली या उपसर्ग केवली – इन सबको अनन्त सुख ही होता है।

जो साधक मुनिराज, दिगम्बर अवस्था के साथ क्रम से क्षपकश्रेणी पर चढ़कर पूर्ण वीतरागी एवं पूर्ण सुखी होते हैं, वे ही अरहन्त अवस्था को प्राप्त करते हुए अनन्त सुखी बनते हैं, कालान्तर में वे ही सिद्ध परमेष्ठी होकर, अव्याबाध अनन्त सुखी हो जाते हैं।

**प्रश्न – सयोगकेवली एवं अयोगकेवली के सुख में कुछ भेद भी होता है? अथवा दोनों का सुख समान ही अनन्त होता है ?**

**उत्तर –** दोनों केवलियों का सुख एवं ज्ञान दोनों समानरूप से अनन्त ही होते हैं।

**प्रश्न – फिर इनके अलग-अलग गुणस्थान क्यों ?**

**उत्तर –** तेरहवें गुणस्थानवालों का नाम सयोगकेवली है और चौदहवें गुणस्थानवालों का नाम अयोगकेवली है। योग का सद्भाव एवं अभाव – इतना ही दोनों में अन्तर है और कुछ दूसरा अन्तर नहीं है। इस कारण शास्त्र में भी उनके सुख एवं ज्ञान में अन्तर नहीं कहा गया है।

**प्रश्न – योग के कारण उनमें कोई अन्य भेद भी होता है क्या?**

**उत्तर –** सयोगकेवली जिनेश्वर को योग के कारण सातावेदनीय का एक समय का नवीन आस्रव-बन्ध होता है, लेकिन अयोगकेवली को यह आस्रव-बन्ध भी नहीं होता।

**ध्यान रहे कि सयोगकेवली गुणस्थान में किसी भी कर्म का क्षय भी नहीं होता।**

सुख की हीनाधिकता में कारण तो मोहनीयकर्म अथवा घातिकर्मों का निमित्तत्व ही कहा है, परन्तु अरहन्त अवस्था में चारों ही घातिकर्म का अभाव होता है।

**प्रश्न – यह प्रगट अनन्त सुख, कितने काल तक रहता है?**

**उत्तर –** प्रत्येक पर्याय स्वभाव से एक समय की ही होती है – इस अपेक्षा से अरहन्त का सुख भी सादि-सान्त ही होता है; तथापि अरहन्त की अनन्त सुख की पर्याय वैसी की वैसी अनन्तकाल पर्यन्त रहती है। इसलिए इसे सादि-अनन्त भी कहते हैं। यही सुख की पर्याय सिद्ध अवस्था में अनन्त-अव्याबाध कहलाती है।

**प्रश्न – तेरहवें गुणस्थान में चार अघातिकर्मों का उदय भी रहता है और कदाचित् किसी केवली भगवान को असाता का उदय भी हो**

सकता है – इन कारणों से सुख की अनन्तता में कुछ अन्तर भी आता है क्या?

उत्तर – नहीं, चार अघातिकर्मों के उदय के कारण अथवा असातावेदनीय के उदय के कारण सुख की अनन्तता में कुछ भी अन्तर नहीं होता। अनन्त सुख में असाता का उदय कुछ भी अन्तर नहीं कर सकता; क्योंकि मोह-परिणाम एवं मोहनीयकर्म का उदय न होने के कारण असाता अथवा अन्य कर्म भी दुःख में निमित्त नहीं बनते।

प्रश्न – यह अनन्त सुख, अव्याबाधरूप से किस कारण से परिवर्तित होता है?

उत्तर – सयोगकेवली एवं अयोगकेवली नामक क्रमशः तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में चार अघातिकर्मों का सतत् उदय रहता है, उसे ही उपचार से बाधा कहा जाता है। पश्चात् उन केवली महामुनिराज अर्थात् अरहन्त भगवान के चार अघातिकर्मों का भी नाश हो जाता है तो चार अघातिकर्मों में वेदनीय कर्म के क्षय के कारण सिद्धों का अनन्त सुख, अव्याबाध सुखरूप में परिवर्तित हो जाता है।



एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितो ऽपि युक्त इव।

प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

इसप्रकार यह आत्मा कर्मकृत रागादि अथवा शरीरादि भावों से संयुक्त न होने पर भी अज्ञानी जीवों को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है और वह प्रतिभास ही निश्चय से संसार का बीजरूप है।

–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पृष्ठ-४३

## आठवाँ अधिकार

### अव्याबाध अनन्त सुख

सातवें अधिकार में सयोग-अयोग केवली भगवान को अनन्त ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान के साथ नियम से अनन्त सुख होता है – यह बताया गया है।

अब इस आठवें अधिकार में सिद्ध भगवान को अव्याबाध अनन्त सुख होता है – इस सम्बन्ध में अधिक जानने का प्रयत्न करते हैं।

यद्यपि सिद्ध जीवों में परस्पर गति-जाति आदि किसी भी प्रकार का कोई भेद वर्तमान में नहीं होता, इसलिए वे भेद-व्यवहार से रहित होते हैं; तथापि उनमें भूतकालीन क्षेत्र, काल, गति आदि की अपेक्षा कथंचित् परस्पर भेद भी है।

इस विषय को आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में निम्न सूत्र द्वारा कहा है –

क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञानावगाहना ऽन्तर-संख्या ऽल्पबहुत्वतः साध्याः।

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व के द्वारा सिद्ध जीव विभाग (भेद) करने योग्य हैं।<sup>१</sup>

आचार्यश्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान की परिभाषा निम्नप्रकार दी है –

अट्टविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।

अट्टगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥

ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरहित, अनन्तसुखामृत आस्वादी, परम शान्तिमय, मिथ्यादर्शनादि सर्व विकाररहित-निर्विकार, नित्य, सम्यक्त्व

१. तत्त्वार्थसूत्र, अधिकार १०, सूत्र ९

आदि आठ प्रधान गुण युक्त, अनन्त शुद्ध पर्यायों से सहित, कृतकृत्य, लोकाग्रस्थित, वीतरागी, सर्वज्ञ, निकल परमात्मा को सिद्ध भगवान कहते हैं।

“सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य – ये एकार्थवाची नाम हैं। जिन्होंने समस्त कर्मों का निराकरण कर दिया है तथा जिन्होंने बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रहित, अनन्त, अनुपम, स्वाभाविक और प्रतिपक्ष रहित सुख को प्राप्त कर लिया है, जो निर्लेप हैं, अचल स्वरूप को प्राप्त हैं, सम्पूर्ण अवगुणों से रहित हैं, सर्व गुणों के निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात् आत्मा का आकार चरम शरीर से कुछ न्यून है, जो कोश से निकले हुए बाण के समान निःसंग हैं और लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं।”<sup>१</sup>

गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान को ही व्यवहारातीत, परमशुद्ध, कार्यपरमात्मा, लोकाग्रवासी, संसारातीत, निरंजन, निराकार, निष्काम, निष्कर्म, साध्यपरमात्मा, परमसुखी, ज्ञानाकारी, ज्ञानशरीरी, चिरवासी, अशरीरी इत्यादि अनेक नाम हैं; इन्हें देहमुक्त भी कहते हैं।<sup>२</sup>

ईषत्-प्राग्भार पृथ्वी के ठीक मध्य में रजतमय, दिव्य, सुन्दर, दैदीप्यमान और सीधे रखे हुए अर्ध गोले के सदृश मोक्ष (सिद्ध) शिला है। यह अत्यन्त प्रभायुक्त उत्तान छत्राकार और मनुष्य लोक के सदृश (४५ लाख योजन) विस्तारवाली है। इस शिला की मध्य की मोटाई आठ योजन है, आगे दोनों तरफ अन्तर्पर्यन्त क्रमशः हीन होती गई है। इससे ऊपर जाकर सिद्ध भगवान लोकान्त में विराजमान हैं।

सिद्धों का यह स्थान व्यवहारनय से कहा गया है। निश्चय से प्रत्येक सिद्ध भगवान, अपने-अपने आत्मप्रदेशों में अवस्थित हैं।

**सिद्धों का सुख** – तीनों लोकों में चतुर्निकाय के सर्व देवों, इन्द्रों,

अहमिन्द्रों, पदवीधारी चक्रवर्ती आदि सर्व राजाओं, भोगभूमिज युगलों और सर्व विद्याधरों के भूत, भविष्यत्, वर्तमान के सर्व सुख को एकत्र कर लेने पर भी त्रिकालज विषयों से उत्पन्न होनेवाले इस इन्द्रियजन्य समस्त सुखों से (भिन्न जाति का) अनन्तानन्त गुणा शाश्वत् एवं अतीन्द्रिय सुख सिद्ध परमेष्ठी एक समय में भोगते हैं।

लोक के अग्रभाग में स्थित सिद्ध परमेष्ठी, अपनी आत्मा के उपादान से उत्पन्न, वृद्धि-हास से रहित, परद्रव्यों से निरपेक्ष, सर्व सुखों में सर्वोत्कृष्ट, बाधा रहित, उपमा रहित, दुःख रहित, अतीन्द्रिय, अनुपम सुख से उत्पन्न और समस्त सुखों में सारभूत है – ऐसे सुख का उपभोग निरन्तर करते हैं।

सिद्ध भगवान का स्वरूप – तनुवातवलय के अन्त में है मस्तक जिनका ऐसे त्रिजग-वन्दनीय, अनन्त सुख में निमग्न और नित्य ही अष्ट गुणों से विभूषित सिद्ध परमेष्ठी, उस सिद्धशिला से ऊपर अवस्थित हैं। ज्ञान ही है शरीर जिनका – ऐसे वे अमूर्तिक सिद्ध कोई कायोत्सर्ग आसन से और कोई पद्मासन से नाना प्रकार के आकारों में अवस्थित हैं।

जिसप्रकार पुरुषाकार मोम रहित सांचे में आकाश, पुरुषाकार को धारण करके रहता है, उसीप्रकार पूर्व शरीर के आयाम एवं विस्तार से किंचित् न्यून पुरुषाकार प्रदेशों से युक्त, लोकोत्तमस्वरूप, शरणस्वरूप और समस्त विश्व को मंगलस्वरूप सिद्ध भगवान अन्त रहित अनन्तकाल पर्यन्त अपनी आत्मा में ही अवस्थित रहते हैं।

इसप्रकार सिद्ध भगवान, विश्व के समस्त मुनीश्वरों के द्वारा वन्द्य तथा स्तुत्य हैं। मैं भी उनका ध्यान करता हूँ।

**प्रश्न – सिद्धरूप अवस्था में शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग का क्या स्वरूप होगा?**

**उत्तर –** जैसे, सयोग-अयोगकेवलियों के लिए शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग का स्वरूप बताया गया है, वैसा ही यहाँ समझ लेना चाहिए।



प्रश्न – चौथे गुणस्थान से अर्थात् जब से मोक्षमार्ग व्यक्त होता है, निराकुल सुख प्रगट होता है, धर्म प्रगट होता है, वीतरागता प्रगट होती है, उस समय से शुद्धपरिणति निरन्तर व्यक्त रहती है। चौथे, पाँचवें गुणस्थान में यथायोग्य पुरुषार्थ के अनुसार शुद्धोपयोग बीच-बीच में प्रगट होता रहता है और सातवें गुणस्थान से शुद्धोपयोग नियम से सतत् बढ़ता ही रहता है, बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में शुद्धोपयोग पूर्ण हो जाता है – ऐसी स्थिति में आप तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानों एवं गुणस्थानातीत सिद्ध अवस्था में शुद्धपरिणति तथा शुद्धोपयोग का निषेध बता रहे हैं – यह विषय हमें समझ में नहीं आ रहा है, गले नहीं उतर रहा है। जहाँ अनन्त गुणों की सर्व अनन्त शुद्धपर्यायें सतत शुद्धरूप ही व्यक्त रहती हैं, वहाँ आप शुद्धपरिणति एवं शुद्धोपयोग का अभाव बता रहे? – यह कैसे सम्भव है? क्या शुद्धपरिणति बदलकर अशुद्धपरिणति हो जाती है?

उत्तर – आपका अभिप्राय हमें समझ में आ गया है। शुद्धपरिणति बदलकर अशुद्धपरिणति नहीं होती – इस अपेक्षा से केवलियों और सिद्ध अवस्था में भी अशुद्धपरिणति के अभावरूप (नास्ति की अपेक्षा) शुद्धपरिणति विद्यमान है – ऐसा हम आपकी विवक्षा/अपेक्षा से स्वीकार कर लेते हैं।

इसीप्रकार सिद्ध जीवों के ज्ञान तथा श्रद्धा गुण में निज शुद्धात्मा ही उपादेयरूप से अनन्त काल रहता है – ऐसी शुद्धोपयोग के सम्बन्ध में आपकी विवक्षा हो तो केवलियों (सयोग-अयोग) को, सिद्ध भगवानों को भी शुद्धोपयोग है ही – यह विषय स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।

वस्तुतः शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग में यहाँ (अरहन्त, सिद्ध भगवन्तों के) कोई अन्तर ही नहीं रहा; क्योंकि उनकी शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग – दोनों ही परिपूर्ण और एकमेक हो गये हैं। ●

## नौवाँ अधिकार

### आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के मिश्रधर्म के सम्बन्ध में अनमोल बोल

इस अधिकार में पूज्य स्वामीजी के मिश्रधारा सम्बन्धी कुछ उद्धरणों को संकलित किया गया है। निम्न बोल, ज्ञानधारा-रागधारा के उनके प्रवचनों में से संगृहीत हैं।

(१)

सम्यग्दृष्टि को आत्मदर्शन-आत्मज्ञानपूर्वक आंशिक चारित्र भी हुआ है; किन्तु जबतक पूर्ण यथाख्यातचारित्र न हो, तबतक उनके जीवन में एक शुभाशुभ कर्मधारा अर्थात् रागधारा और दूसरी ज्ञानधारा – ये दोनों धारार्यें अवश्य रहती हैं। यहाँ रागधारा में केवल शुभराग ही नहीं होता, अपितु शुभराग के साथ अशुभराग भी होता है। इसतरह ज्ञानी जीव के एक शुभाशुभ कर्मधारा और दूसरी राग से भिन्न आत्मज्ञान की धारा सतत् बहती रहती है।<sup>१</sup>

(२)

चतुर्थ गुणस्थान में समकित्ती को युद्धस्थल में युद्ध करते समय तथा पाँचवें गुणस्थान में भी रौद्रध्यानरूप अशुभराग की धारा विद्यमान है; तथापि वहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान व आंशिक स्थिरतारूप जो चारित्र विद्यमान है, वह ज्ञानधारा है।<sup>२</sup>

(३)

सर्वत्र ही रागधारा अशान्ति व दुःख की धारा है तथा ज्ञानधारा

शान्ति व आनन्द की धारा है; तथापि दोनों ही धाराएँ एकसाथ रहते हुए निर्बाधरूप से अपना-अपना कार्य करती हैं।<sup>१</sup>

(४)

पूर्ण वीतरागी को कर्मधारा नहीं होती, केवल ज्ञानधारा ही होती है और मिथ्यादृष्टि के ज्ञानधारा नहीं होती, केवल कर्मधारा ही होती है।<sup>२</sup>

(५)

जिसतरह एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, उसीतरह राग की महिमा व शुद्ध चिद्रूप की महिमा, दोनों एक साथ नहीं हो सकतीं; अतः हे भाई ! यदि तुम्हें मोक्ष की इच्छा है तो राग की रुचि छोड़ो और शुद्ध चैतन्यमय निज परमात्मा की महिमा कर उसी में अन्तर्लीन होओ।

इसप्रकार धर्मी जीव को हुए महाव्रतादि के परिणाम भी बन्ध के कारण हैं और शुद्धत्वपरिणामरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।

प्रश्न :- जितना अशुभभाव से बचें, उतना तो संवर है न ?

उत्तर :- नहीं, ऐसा नहीं है। अशुभभाव से बचकर जो शुभभाव उत्पन्न हुआ है, वह शुभभाव स्वयं ही बन्ध का कारण है। केवल एक ज्ञानपरिणति ही संवर-निर्जरा का कारण है।

इसप्रकार साधक जीव के जीवन में एक ही समय में ज्ञानधारा और कर्मधारा प्रवर्तित होती है, तथापि उस जीव को ज्ञानधारा का आदर है, कर्मधारा का नहीं क्योंकि एक ज्ञानधारा ही संवर-निर्जरा का कारण है और कर्मधारा, आस्रव का कारण है; अतः ज्ञानधारा का आश्रय लेकर शुद्धत्वरूप परिणामन के माध्यम से मोक्ष-प्राप्ति के लिए अग्रसर होना चाहिए।<sup>३</sup>

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा, पृष्ठ-१५

२. वही, पृष्ठ-१५

३. वही, पृष्ठ-१९

(६)

वास्तव में मिथ्यादृष्टि के पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, षट् आवश्यक आदिरूप जो यतिपना है, वह व्यवहार होने से बन्ध का कारण है और सम्यग्दृष्टि का व्यवहार अर्थात् पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि क्रियाएँ मोक्ष का (निमित्त) कारण हैं।

हे भाई ! अपनी शुद्ध चिदानन्द निजात्मा के आनन्द का वेदन, अनुभवन वह एक ही मोक्ष का कारण है तथा भक्ति, पूजा, दया-दान, व्रत-शील-संयमादि समस्त क्रियाएँ बन्ध का ही कारण हैं।

निज अनुभवज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन और आनन्द का वेदन तथा उसके साथ होनेवाली दया-दान-व्रत-तप आदि क्रियाएँ ह्व ये दोनों मोक्षमार्ग हैं, ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करती हैं ह्व ऐसा अज्ञानी जीव मानता है; किन्तु इस मान्यता से कभी मोक्ष नहीं होगा। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् पंच महाव्रतादि क्रियाओं को मोक्ष का कारण मानना यह अज्ञानी की झूठी मान्यता है।<sup>१</sup>

(७)

यहाँ कोई कहता है कि एक ओर तो सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा का हेतु कहने में आते हैं और दूसरी ओर सम्यग्दृष्टि का शुभभाव बन्ध का कारण कहा जाता है, इसका तात्पर्य क्या है ?<sup>२</sup>

समयसार के निर्जरा-अधिकार में सम्यग्दृष्टि के भोगों को निर्जरा का हेतु कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि भोग का भाव तो बन्ध का ही कारण है और स्वभाव-दृष्टि में जो निर्मलता प्रगट हुई, वह संवर-निर्जरा का कारण है। यह कथन दृष्टि की प्रधानता से किया गया है।<sup>३</sup>

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा पृष्ठ-२३

२. वही, पृष्ठ-२४

३. वही, पृष्ठ-२४

(८)

मिथ्यादृष्टि के व्रतादि बन्ध के कारण हैं और सम्यग्दृष्टि के व्रतादि बन्ध के कारण नहीं हैं ह्व ऐसा यहाँ नहीं समझना, क्योंकि दोनों के ही व्रतादि परिणाम बन्ध के ही कारण हैं।<sup>१</sup>

(९)

अरे ! वीतरागी सन्तों का मार्ग तो परमात्मस्वरूप है। उसके अवलम्बन से जितनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में शुद्धता प्रगट हुई, वह मोक्ष का कारण है और जितने पंच महाव्रतादि पालन के जो विकल्प उठते हैं, फिर चाहे वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के ही क्यों न उत्पन्न हों, वे सब शुभरागरूप होने से मात्र बंध के ही कारण हैं।<sup>२</sup>

(१०)

यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्धज्ञान अर्थात् अनुभवज्ञान और क्रियारूप परिणाम अर्थात् दया, दान, बारह व्रतादि, भक्ति-पूजा के परिणाम भी होते हैं, किन्तु उन दोनों के एकसाथ-एकसमय में होने में कोई बाधा नहीं है; क्योंकि एक भाव मोक्ष का कारण है और दूजा भाव, बन्ध का कारण है।<sup>३</sup>

(११)

साधक को ज्ञानस्वरूप का वेदन और राग की क्रिया दोनों एकसाथ-एक समय में ही वर्तती हैं, उससमय उसके ज्ञानधारा और कर्मधारा ह्व दोनों धाराएँ अन्तर में प्रवर्तित हो रही हैं; जिसमें ज्ञानधारा मोक्ष का कारण है और रागधारा बंध का कारण है।<sup>४</sup>

(१२)

सम्यग्दृष्टि को भी विषय-कषाय, कमाना इत्यादि अशुभभाव आते हैं, किन्तु वे बन्ध के ही कारण हैं क्योंकि जब तक पूर्ण प्रकटरूप अबन्ध परिणामन न हो, तब तक बन्धभाव भी होते हैं।<sup>५</sup>

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा पृष्ठ-२५

२. वही, पृष्ठ-२६

३. वही, पृष्ठ-२६

४. वही, पृष्ठ-२६

५. वही, पृष्ठ-२७

(१३)

जिसे निज शुद्ध चिदानन्द आत्मा का ज्ञान-भान ही नहीं है, जो पुण्य की क्रिया में ही धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसके व्रतादिरूप समस्त परिणाम बन्ध के ही कारण हैं।<sup>१</sup>

(१४)

एक ही समय और एक ही काल में ज्ञानी जीवों के दोनों अवस्थाएँ वर्त रही हैं। निष्कर्ष स्वरूप हम यह कह सकते हैं कि ह्व

१) सर्वज्ञ परमात्मा को मात्र अबन्ध (मोक्ष) रूप परिणाम है।

२) मिथ्यादृष्टि को मात्र बन्धरूप ही परिणाम हैं।

३) साधक को एक ही समय में बन्ध-अबन्धरूप दोनों परिणाम हैं।<sup>२</sup>

(१५)

व्रत-पूजा-भक्ति आदि और आत्मद्रव्य का शुद्धत्व परिणामन ह्व ये दोनों एक ही जीव में एक ही समय अस्तिरूप हैं। भगवान आत्मा का शुद्ध परिणामन पर्याय में है, उससमय रागादिरूप अशुद्धता भी है; किन्तु दोनों की एक जीव में एक ही समय अस्ति है।<sup>३</sup>

(१६)

एक निर्मल पर्याय है और एक रागरूप पर्याय है; इनमें राग की पर्याय निर्मल पर्याय को कोई नुकसान नहीं करती; किन्तु विशेष निर्मलता प्रकट करने में अवश्य हानि करती है।

वर्तमान निर्मल प्रकट पर्याय और मलिन पर्याय ह्व ये दोनों एक साथ ही हैं तथापि जिसप्रकार मिथ्यादृष्टिपना और सम्यग्दृष्टिपना में विरोध है; उसप्रकार का विरोध इन दोनों क्रियाओं में नहीं है।<sup>४</sup>

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा पृष्ठ-२७

२. वही, पृष्ठ-२८

३. वही, पृष्ठ-३१

४. वही, पृष्ठ-३४

(१७)

प्रश्न : - एक ही समय में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और राग हूँ ये दोनों किस रीति से विद्यमान हैं ?

समाधान :- उक्त बात में विरोध जैसा कुछ भी नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान का आनन्दरूप स्वाद है और राग का दुःखरूप स्वाद है। जबतक परिपूर्णता प्रगट नहीं होती, तबतक धर्मी जीव को जितना आनन्द आया, वह पवित्र है, सुख है और जितना राग आया, वह दुःख है; इसमें दोनों के एक समय रहने में कोई बाधा नहीं है।<sup>१</sup>

(१८)

जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान व मिथ्याज्ञान के एकसाथ रहने में विरोध है, उसप्रकार सम्यग्ज्ञान और राग के एक साथ रहने में विरोध नहीं है; क्योंकि सम्यग्ज्ञान, ज्ञानगुण की पर्याय है और रागरूप क्रिया परिणाम चारित्रगुण का विपरीत परिणामन है; अतः उन दोनों के एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है।<sup>२</sup>

(१९)

निज चैतन्य आत्मद्रव्य का आश्रय लेकर उसमें जितनी एकाग्रता हुई, उतनी निर्मलता है। इससमय समस्त परलक्ष्यी भाव अथवा देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन से हुआ परावलम्बी भाव, विकार होने से बन्ध का ही कारण है; किन्तु उनके एक साथ रहने में कोई बाधा नहीं है।<sup>३</sup>

(२०)

निज वस्तु अर्थात् निज भगवान् आत्मा, पूर्णानन्द का नाथ उसके आश्रय से जो निर्मल परिणति प्रगट हुई है, वह स्व-स्वरूप में है और पर के आश्रय से जो पूजा, दान, भक्ति, व्रत, तप इत्यादि विकल्प आते

हैं, वे आत्म-स्वरूप में नहीं हैं; किन्तु दोनों अपने-अपने स्वरूप को छोड़कर एक-दूसरेरूप हो जाएँगे - ऐसा नहीं है।<sup>४</sup>

(२१)

शुभभाव उत्पन्न होने से शुद्धभाव का नाश हो होगा - ऐसा नहीं, अपितु शुभभाव उत्पन्न होने पर भी शुद्धभाव बना रहता है, वह नाश को प्राप्त नहीं होता हूँ यह विशेष है।<sup>५</sup>

(२२)

आत्मा स्वयं अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव करता है, तथापि उस शुद्धभाव के साथ अशुद्धभाव के रहने में कुछ विरोध नहीं है।

विरोध नहीं है का तात्पर्य यह है कि - जिसप्रकार मिथ्यादर्शन-सम्यग्दर्शन अथवा मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान में विरोध है, उसप्रकार शुद्धपना और अशुद्धपना के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है।<sup>६</sup>

(२३)

यहाँ यह सिद्ध करना है कि - प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो तो चारित्र होता है; परन्तु सम्यग्दर्शनरूप पर्याय के कारण चारित्र की पर्याय प्रगट होती है हूँ ऐसा नहीं अथवा चारित्ररूप कार्य का कारण सम्यग्दर्शन है, ऐसा भी नहीं। जिसे निज अन्तर में द्रव्यस्वभाव की प्रतीति हुई है तो उसके जीवन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य होता ही होता है और यही जैन का यथार्थ मार्ग है।

‘...वहाँ किसी काल में जीव को शुद्धपना-अशुद्धपना एक ही समय में घटता है....’ - यहाँ द्रव्य का जितना आश्रय लिया, उतना शुद्धपना प्रगट है; किन्तु जबतक द्रव्य का पूर्ण आश्रय नहीं है, तब तक पर के लक्ष्य से पुण्य-पापरूप अशुद्धभाव उत्पन्न होते रहते हैं। इसप्रकार एक ही समय में मोक्षमार्ग भी है और अशुद्धपना भी है; किन्तु दोनों

एकसाथ रहते हुए भी उन दोनों में कोई बाधा नहीं है।<sup>१</sup>

(२४)

भले ही अशुद्धपना से शुद्धपना विरुद्ध है, किन्तु उन दोनों के एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है।<sup>२</sup>

(२५)

‘..भावार्थ इसप्रकार है ह्व एक जीव में शुद्धपना और अशुद्धपना एक ही काल में है, परन्तु जितने अंशप्रमाण शुद्धपना है, उतने अंश में कर्मक्षयपना है और जितने अंश में अशुद्धपना है, उतने अंश में कर्मबन्ध है। एक समय और एक ही काल में दोनों कार्य हो रहे हैं। ‘एव’ ऐसा ही है, इसमें सन्देह नहीं करना।<sup>३</sup>

(२६)

शंका :- सम्यग्दर्शन होने पर तत्काल ही सम्पूर्ण रागादिरहित दशा प्रगट होती है या कुछ अंश में रागादि शेष रहते हैं ?

समाधान :- अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान से क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक समस्त जीवों की साधकदशा में ज्ञानधारा और कर्मधारा ह्व ये दो धाराएँ प्रवर्तती हैं।

बारहवें गुणस्थान में रागादि विद्यमान नहीं हैं, तथापि क्षयोपशमरूप अल्पज्ञान विद्यमान होने से वहाँ उतने अंश में कर्मधारा है।<sup>४</sup>

(२७)

आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र का जितने अंश में सम्यक् रूप परिणमन हुआ, उतने अंश में उस जीव के ज्ञानधारा है और जितने अंश में रागादि विद्यमान हैं, उतने अंश में कर्मधारा है।<sup>५</sup>

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा पृष्ठ-५५-५६

२. वही, पृष्ठ-५६

३. वही, पृष्ठ-६०

४. वही, पृष्ठ-६५

५. वही, पृष्ठ-६५

(२८)

जिन जीवों के किंचित् रागादि का अभाव होने से थोड़ा धर्म प्रगट हुआ है और शेष रागादि विद्यमान होने से धर्म प्रगट नहीं हुआ है, ऐसी जीव की दशा को मिश्रदशा कहते हैं।<sup>१</sup>

(२९)

थोड़ा धर्म प्रगट है और थोड़ा अप्रगट है; इसलिए चौथे से बारहवें गुणस्थान तक पाये जानेवाले समस्त जीवों के भाव को मिश्रधर्म कहा है।<sup>२</sup>

(३०)

मिश्रधर्म अधिकार (अनुभव प्रकाश) में मुख्यतः चौथे से बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों की दशा का वर्णन है। आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाव से परिपूर्ण है; उसमें पूर्ण लीनता करके जबतक केवलज्ञान प्रगट न हो, तबतक मिश्रधर्म है।<sup>३</sup>

(३१)

‘मैं एक अखण्डानन्द आत्मा हूँ’ ह्व ऐसी श्रद्धा और स्थिरता जिस जीव ने की है, उसे उतनी ज्ञानधारा है और जितना राग शेष है, उतनी कर्मधारा है।<sup>४</sup>

(३२)

चौथे से बारहवें गुणस्थान तक के समस्त जीव अन्तरात्मा हैं। जब-तक सर्वज्ञदशा की प्राप्ति नहीं होती, तब-तक अखण्डता अर्थात् परमात्म-दशा प्रगट नहीं होती है। इससमय वहाँ अज्ञान नहीं किन्तु अपूर्णज्ञान है; अतः बारहवें गुणस्थान में जितना क्षयोपशमरूप अल्पज्ञान है, उतनी कर्मचेतना है और ज्ञानचेतना पूर्ण नहीं हुई; इसलिए मिश्रधारा है।<sup>५</sup>

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा पृष्ठ-६५

२. वही, पृष्ठ-६६

३. वही, पृष्ठ-६७

४. वही, पृष्ठ-६८

५. वही, पृष्ठ-६९

(३३)

आत्मा की यथार्थ प्रतीति में भव-बाधा मिटाने की सामर्थ्य है, अतः 'मेरा आत्मा, स्वभाव से परमात्मा है' ह्व यह प्रतीति ही मुक्ति का कारण है। इस बीच दया-दानादिरूप शुभ-वृत्तियाँ आवें तो आवें, वे सब मलिनभाव हैं, उन्हें टालने की सामर्थ्य स्वयं श्रद्धा में है।<sup>१</sup>

(३४)

पर्याय में पूर्ण निर्मलता प्रगट नहीं है, अतः जो अशुद्धता वर्तती है, उसे अन्तरात्मा टाल नहीं सकता; क्योंकि वहाँ पुरुषार्थ कमजोर है। यदि पुरुषार्थ बढ़ जाए तो वीतरागता और सर्वज्ञता प्रगट हुए बिना नहीं रहती।<sup>२</sup>

(३५)

१. 'पर्याय में राग अथवा अल्पज्ञता नहीं है' ह्व ऐसा कोई मिथ्याज्ञान करे तो उसका व्यवहार मिथ्या होने से वह मिथ्यादृष्टि है तथा २. राग और अल्पज्ञता को आदरणीय मानकर उससे निश्चय प्रकटेगा ऐसा कोई माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। ३. अतः आत्मा का भान हुआ, वह निश्चय और जितने अंश में राग व अल्पज्ञता शेष है, उसे जानने का नाम व्यवहार है।<sup>३</sup>

(३६)

जो जीव अल्पज्ञता में सर्वज्ञता और राग में वीतरागता मानता है, उसने तीर्थ को छोड़ दिया है अर्थात् व्यवहार को छोड़ दिया है।<sup>४</sup>

(३७)

स्वभाव के अवलम्बन से शान्ति बढ़े और रागादि घटे, तब चारित्र होता है।<sup>५</sup>

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा पृष्ठ-७०

२. वही, पृष्ठ-७०

३. वही, पृष्ठ-७१

४. वही, पृष्ठ-७१

५. वही, पृष्ठ-७२

(३८)

आत्मा का भान होने पर जिस दशा तक राग और अल्पज्ञता विद्यमान है, उस दशा को मिश्रदशा कहते हैं।<sup>१</sup>

(३९)

यद्यपि श्रद्धागुण में क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर कोई कमी नहीं रही, तथापि जबतक सभी गुण पूर्ण निर्मल नहीं हुए हैं, तबतक मिश्रधर्म है।<sup>२</sup>

(४०)

जिससमय धर्म होता है, उससमय अधर्म भी होता है। यदि आंशिक धर्म प्रगट होते ही धर्म की पूर्णता मानें तो उस जीव ने साधकदशा और मिश्रधर्म को समझा ही नहीं है।<sup>३</sup>

(४१)

यहाँ शुभाशुभ रागादि भावरूप कर्मधारा अपने कारण से है और अन्तर में जितनी ज्ञान-शक्ति निर्मल हुई है, उतनी ज्ञानधारा स्वयं अपने कारण से है; इसप्रकार इन दोनों धाराओं को एक साथ मिश्रधारा कहा है।<sup>४</sup>

(४२)

चारित्रगुण की कुछ व्यक्ति (प्रगटता) चारित्ररूप है और कुछ व्यक्ति (प्रगटता) विकाररूप है। वहाँ चारित्रगुण की विकाररूप पर्याय अपने कारण से है, कर्म के कारण नहीं; इसलिए वहाँ भी मिश्रदशारूप ही धर्म है।<sup>५</sup>

(४३)

यद्यपि श्रद्धागुण पूर्ण प्रगट है, किन्तु अन्य गुण पूर्ण नहीं होने से मिश्रभाव है।<sup>६</sup>

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा पृष्ठ-७८

२. वही, पृष्ठ-७९

३. वही, पृष्ठ-७९-८०

४. वही, पृष्ठ-८०

५. वही, पृष्ठ-८०

६. वही, पृष्ठ-८०

(४४)

आत्मा को निमित्त और रागादि से पृथक् करके स्वभाव में एकत्वरूप श्रद्धाभाव हुआ है; परन्तु अन्य गुणों की जितनी अपूर्णता है, उतनी कचास है अरहन्त अवस्था में यह भाव आवरण ही मिश्रधर्म है।<sup>१</sup>

(४५)

अरहन्त अवस्था में अघातिकर्म विद्यमान होने पर भी केवलज्ञान शुद्ध है; क्योंकि घातिकर्म के नाश से वे सकल परमात्मा हुए हैं, उन्हें सर्व प्रत्यक्षज्ञान प्रगट हुआ है; अतः अब वहाँ मिश्रभाव नहीं है।<sup>२</sup>

(४६)

जो सम्यग्दृष्टि दो घड़ी में केवलज्ञान प्रगट करता है, उसे भी अन्तर्मुहूर्त तक मिश्रभाव अवश्य ही रहता है और जब वह उसका नाश करता है, तब ही उसके सकल परमात्मपना प्रगट होता है।<sup>३</sup>

(४७)

प्रश्न :- अन्तरात्मा के ज्ञानधारा और रागधारा दोनों ही हैं हूँ ऐसा जो कहा है, इसमें प्रश्न यह है कि बारहवें गुणस्थान में दो धाराएँ हैं या मात्र एक ज्ञानधारा ही है ? यदि अकेली ज्ञानधारा ही है तो उसे अन्तरात्मा मत कहो तथा यदि दोनों धाराएँ हैं हूँ ऐसा कहें तो बारहवें गुणस्थान में मोह-क्षय हुआ है, अतः कर्मधारा कहाँ रही? अर्थात् बारहवें गुणस्थान में वीतरागदशा हो गयी है, अब वहाँ अधूरापन कहाँ रहा?

समाधान :- बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरणरूप आवरण अभी भी विद्यमान है, इसकारण वह जीव भी अन्तरात्मा है। अज्ञानभाव बारहवें गुणस्थान तक होने से वहाँ अन्तरात्मपना भी है और मिश्रभाव भी है।<sup>४</sup>

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा पृष्ठ-८१

२. वही, पृष्ठ-८१

३. वही, पृष्ठ-८१

४. वही, पृष्ठ-८१

(४८)

प्रश्न :- बारहवें गुणस्थान में अज्ञान कैसे है ?

समाधान :- (१) केवलज्ञान के बिना सकल द्रव्यों की सकल पर्याय भासित नहीं होती, यही औदयिक अज्ञान है। (२) निज का प्रत्यक्षज्ञान (सम्पूर्ण प्रत्यक्ष) भी नहीं है; अतः अज्ञान ही है अर्थात् अपने गुण-पर्याय प्रत्यक्ष भासित नहीं होते, इसलिए अज्ञान कहा जाता है (३) और सर्व (अनन्तान्त) द्रव्य प्रत्यक्ष नहीं हैं, इसकारण भी अज्ञान है।

यहाँ विपरीत ज्ञान को अज्ञान नहीं कहा, अपितु सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान नहीं है हूँ इस अपेक्षा अज्ञान कहा है।<sup>१</sup>

(४९)

साधक अवस्था में थोड़ी निर्मलता और थोड़ी मलिनता रहती ही हैं। यदि ऐसा न हो तो सम्यग्दर्शन होते ही केवलज्ञान हो जाए; किन्तु पर्याय का क्रम ऐसा ही है, अतः सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त तक तो मिश्रदशा रहती ही है।<sup>२</sup>

१. औपशमिक भाव के बिना धर्म का प्रारंभ नहीं।

२. क्षायिक भाव के बिना कोई अरिहंत नहीं।

३. क्षायोपशमिक भाव के बिना कोई छद्मस्थ नहीं।

४. औदयिक भाव के बिना कोई संसारी जीव नहीं।

५. पारिणामिक भाव के बिना कोई जीव नहीं।

## परिशिष्ट

प्रश्न – शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग – इन तीन उपयोगों में से कौनसा उपयोग किस गुणस्थान में रहता है – इस विषय को लेकर आचार्य महाराज तथा विभिन्न विद्वानों के विचार जानना चाहते हैं। इस विषय को स्पष्ट करें।

उत्तर – आचार्य श्री जयसेन ने तीनों उपयोगों के विषय में प्रवचनसार परमागम की गाथा ९ में विशेष स्पष्टीकरण किया है, उसे हम यहाँ दे रहे हैं –

मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थः ॥ ९ ॥

प्राभृतशास्त्र में तीन उपयोग किसप्रकार से कहे गये हैं?

१. मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र – इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से (घटता हुआ) अशुभोपयोग है।
२. इसके बाद असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत – इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से (बढ़ता हुआ) शुभोपयोग है।
३. इसके आगे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त छह गुणस्थानों में तारतम्य से (बढ़ता हुआ) शुद्धोपयोग है।
४. इसके बाद सयोगीजिन और अयोगीजिन – इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है – यह भाव है।

भावार्थ – जिसप्रकार स्फटिकमणि स्वभाव से निर्मल होता हुआ भी लाल आदि रंगों के संयोग से लाल आदि रंगरूप होता हुआ दिखाई देता है। उसीप्रकार

१. जीव, स्वभाव से शुद्ध-बुद्ध एक स्वरूपी होने पर भी परिणमन स्वभाव के कारण दान-पूजा, मूलगुण-उत्तरगुण आदि रूप से परिणमता हुआ शुभ है।
२. मिथ्यात्वादिरूप परिणमता हुआ अशुभ है।
३. निश्चय रत्नत्रयस्वरूप आत्मलीनतारूप परिणमता हुआ शुद्धोपयोगरूप होता है।
४. संक्षिप्त शैली में प्रतिपादन करने पर पहले से तीसरे गुणस्थानपर्यन्त घटता हुआ अशुभोपयोग है।
५. चौथे से छठे गुणस्थान पर्यन्त बढ़ता हुआ शुभोपयोग है।
६. सातवें से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग है।
७. तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में तो शुद्धोपयोग का फल है।

विशेषार्थ – चौदह गुणस्थानों के संक्षिप्त विभाजन में यहाँ (टीका में) तारतम्य से, पहले से तीसरे तक अशुभोपयोग, चौथे से छठवें तक शुभोपयोग तथा सातवें से बारहवें तक शुद्धोपयोग कहा है – यह कथन मुख्यता, बहुलता (अधिकता) की दृष्टि से कथंचित् ही है, सर्वथा नहीं। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

पहले गुणस्थानवर्ती जीव भी शुक्ललेश्या में मरण कर नवमें ग्रैवेयक तक<sup>१</sup>, तथा दूसरे गुणस्थान वाले भी देवों में उत्पन्न होते हैं।<sup>२</sup> देवायु का बन्ध शुभभाव से होता है<sup>३</sup>; अतः यहाँ अशुभोपयोग के साथ शुभभाव भी स्वतःसिद्ध है।

चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित सम्यक्त्वाचरण चारित्र<sup>४</sup>, तथा पाँचवें-छठवें गुणस्थान में पूर्वोक्त सहित क्रमशः

१. द्रव्य प्रमाणानुगम, धवला पुस्तक ३, पृष्ठ २९६
२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा १२८
३. तत्त्वार्थसूत्र, छठा अध्याय, सूत्र २०
४. चारित्रपाहुड़, गाथा ५ व ६



देशचारित्र<sup>१</sup>, सकलचारित्र<sup>२</sup>, रूप रत्नत्रय – संवर-निर्जरा तत्त्व विद्यमान हैं; अतः शुद्धोपयोग तथा शुद्ध परिणति सहज-सिद्ध है।

चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के अविरति, देशविरति, प्रमाद, कषाय, योग से अशुभ आस्रवभाव तथा आर्तध्यान-रौद्रध्यान<sup>३</sup> भी पाया जाता है; इसप्रकार यहाँ अशुभोपयोग भी सिद्ध है।

बंधादि प्रकरणों से<sup>४</sup> यहाँ तीनों उपयोग की सत्ता स्वयं-सिद्ध है।

सातवें से दसवें गुणस्थान तक भी अव्यक्त विद्यमान भयादि संज्ञार्ये<sup>५</sup> तथा संज्वलन कषाय<sup>६</sup> आदि से होने वाले बन्ध से, अशुद्धता भी आगम-सिद्ध है।

इसप्रकार पहले से तीसरे गुणस्थान तक बहुलतया अशुभोपयोग, गौणतया शुभभाव है। चौथे से छठवें गुणस्थान में शुभोपयोग की अधिकता है, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग अपेक्षाकृत कम है तथा शुद्ध परिणति सदा विद्यमान है। आगे सातवें से दसवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग तथा आगमसिद्ध अशुद्धता विद्यमान है।

शेष गुणस्थान शुद्धोपयोग और उसके फलरूप ही हैं, वहाँ शुभाशुभ भाव रंचमात्र भी नहीं है।

इसप्रकार मुख्य-गौणरूप स्याद्वाद-शैली में सर्व कथन आगम-सम्मत है ॥९॥<sup>७</sup>

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३० व ३१

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३२

३. तत्त्वार्थसूत्र, नवम अध्याय, सूत्र ३४ व ३५

४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, द्वितीयाधिकार, बंध-उदय-सत्त्व प्रकरण

५. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ७०२

६. वही, गाथा ४५ से ५८ तक

७. प्रवचनसार आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति अनुवाद एवं सम्पादन ब्र. कल्पनाबेन (एम.ए.), सागर

बृहद् द्रव्यसंग्रह के टीकाकार श्री ब्रह्मदेवसूरि ने गाथा ३४ की संस्कृत टीका में स्पष्ट शब्दों में खुलासा किया है, उसे हम यहाँ दे रहे हैं -

“तत्राशुद्धनिश्चये शुद्धोपयोगः कथं घटते?

इति चेत्तत्रोत्तरं शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति, तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्म-स्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते।

शंका - अशुद्धनिश्चय में मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में तीन उपयोगों (अशुभ, शुभ और शुद्ध) का व्याख्यान किया; वहाँ अशुद्धनिश्चयनय में शुद्धोपयोग किस प्रकार घटित होता है?

उत्तर - शुद्धोपयोग में शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावी निजात्मा ध्येय होता है, इसकारण १. शुद्ध ध्येयवाला होने से, २. शुद्ध अवलंबवाला होने से और ३. शुद्धात्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है।”

चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में शुद्धोपयोग के संबंध में विशेष विस्तृत जानकारी के लिए तत्त्वार्थसुधा<sup>१</sup> भाग १, पृष्ठ क्रमांक २३ से ४३ पर्यन्त की तत्त्वार्थसूत्र के ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ इस सूत्र की टीका अवश्य देखें।

हिन्दी भाषा में पण्डित श्री दीपचन्दजी कासलीवाल, पण्डित राजमलजी, पण्डित श्री टोडरमलजी, पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा, पण्डित श्री बनारसीदासजी, पण्डित श्री भागचन्दजी छाजेड, क्षुल्लक धर्मदासजी आदि ने तथा पण्डित श्री गुमानीरामजी ने भी चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग को स्वीकार किया है।

१. तत्त्वार्थसुधा भाग-१, (तत्त्वार्थसूत्र प्रथम अध्याय की व्याख्या) संकलनकार - निर्मलकुमार जैन एडवोकेट, एटा (उत्तरप्रदेश), संपादक : डॉ. राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, नागपुर (महा.)।

जब ज्ञान-दर्शन-चारित्र परिणामों से स्व-स्वादरूप स्व-अनुभव होता है, तब उन परिणामों को निम्न नाम-भाव द्वारा कहते हैं - निर्विकल्पदशा, आत्म-सन्मुख उपयोग, भावमति-भावश्रुत, स्व-संवेदनभाव, स्व-वस्तु-मग्न, स्वाचरण, स्व-स्थिरता, स्वविश्राम, इन्द्रिय-मन-संज्ञातीत भाव, शुद्धोपयोग - ये सर्व संज्ञाभाव अथवा उपचार से इन्द्रिय-मन स्वरूप में मग्न, इस प्रकार ..... स्वानुभव आदि अनेक संज्ञाएँ हैं, परन्तु एक स्व-स्वादरूप अनुभवदशा अथवा निर्विकल्पदशा मुख्य जानना।<sup>१</sup>

निजशुद्धात्मा के ध्यान में स्थित जीवों का जो वीतरागी परमानन्द सुख प्रतिभासित होता है, वही निश्चय मोक्षमार्ग है। उसका भिन्न-भिन्न पर्यायवाची नामों से कथन किया जाता है - वही शुद्धात्मदर्शन है, वही शुद्धात्मज्ञान है, वही स्वसंवेदनज्ञान है, वही शुद्धचारित्र है, वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वही आत्मा की प्रतीति है, वही आत्म-साक्षात्कार है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही शुद्धोपयोग है, वही अभेद रत्नत्रय है, वही धर्मध्यान है, वही वीतरागरूप है।<sup>२</sup>

**प्रश्न - चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता है, इस विषय में आचार्यों का और कुछ विशेष कथन आया है क्या?**

**उत्तर -** हाँ, आया है; बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की संस्कृत टीका में यह विषय आया है, उसे हम संस्कृत, हिन्दी तथा तलटीप के साथ यहाँ दे रहे हैं - ततो ऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टिश्रावक प्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते।

उससे आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्तसंयत - इन

१. आत्मावलोकन, पण्डित दीपचन्द ग्रन्थावली, भाग १, पृष्ठ १२५-१२६ और देखें, अनुभव वर्णन, अनुभव प्रकाश, पण्डित दीपचन्द ग्रन्थावली, भाग १, पृष्ठ ५८-६०.
२. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ५६ की टीका।

तीन 'गुणस्थानों में परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक ऊपर-ऊपर तारतम्यता से शुभोपयोग होता है।

पण्डित प्रवर श्री टोडरमलजी भी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार करते हैं कि निर्विकल्प अनुभव, चौथे गुणस्थान से ही आरम्भ हो जाता है। वे स्वयं रहस्यपूर्णचिट्ठी में एक शंका का समाधान करते हुए लिखते हैं -

**शंका - आत्मानुभव (स्वानुभव) कौनसे गुणस्थान में होता है?**

**समाधान -** (आत्मानुभव) चौथे (गुणस्थान) ही से होता है, परन्तु चौथे में तो बहुत काल के अन्तराल से होता है और ऊपर के गुणस्थानों में शीघ्र-शीघ्र होता है।

**शंका - अनुभव तो निर्विकल्प है, वहाँ ऊपर और नीचे के गुणस्थानों में भेद क्या है?**

**समाधान -** परिणामों की मग्नता में विशेष (अन्तर) है।<sup>१</sup>

**शंका - निर्विकल्प अनुभव किसे कहते हैं?**

**समाधान -** चैतन्यस्वरूप जो सविकल्प से निश्चय किया था, उस ही में व्याप्य-व्यापकरूप होकर, इस प्रकार प्रवर्तता है, जहाँ ध्याता-

१. जहाँ चारित्र गुण की आंशिक शुद्धि होती है वहाँ उसके साथ वर्तते हुए शुभोपयोग को परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक कहा जाता है। चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में उसकी भूमिका के अनुसार शुद्धि होती है। देखो, छठे गुणस्थान के धारक मुनि संबंधी प्रवचनसार गाथा २४५, २४६ दोनों आचार्यों की टीका। श्री प्रवचनसार गाथा २४७ जनसेनाचार्यकृत टीका में मुनि की अपेक्षा से शुद्धोपयोग साधके शुभोपयोगे शब्द कहे हैं। यहाँ श्री द्रव्यसंग्रह की टीका में) तो चौथे, पाँचवें और छठे - इसप्रकार तीन गुणस्थान में शुद्धोपयोगसाधक शुभोपयोग कहा है। अतः बिल्कुल स्पष्ट होता है कि इन तीनों गुणस्थानों में आंशिक शुद्धपरिणति होती है; क्योंकि जहाँ आंशिक शुद्धि न हो वहाँ वर्तते हुए शुभोपयोग में शुद्धोपयोग के साधकपने का आरोप भी घटित नहीं होता।
२. रहस्यपूर्णचिट्ठी, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-३४७

ध्येयपना दूर हो गया है, सो ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव है। बड़े नयचक्र ग्रन्थ में ऐसा ही कहा है -

तच्चाणेसणकाले, समयं बुच्छेहि जुत्तिमगेण।

णो आराहणसमये, पच्चक्खो अणुहवो जहा।।<sup>१</sup>

अर्थात् तत्त्व के अवलोकन (अन्वेषण) काल में समय अर्थात् शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जान। पश्चात् आराधना के समय अर्थात् अनुभवकाल में नय-प्रमाण नहीं है, क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष अनुभव है।

शुद्धात्मा के अनुभव काल में द्वैत ही भासित नहीं होता - इस संबंध में आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव, स्वयं शुद्धनय का अनुभव करते हुए लिखते हैं -

इन समस्त भेदों को गौण करनेवाला जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्य-चमत्कार मात्र तेजपुंज (त्रिकाली ध्रुव) आत्मा है, उसका अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती, प्रमाण का सूर्य अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, सो हम नहीं जानते अर्थात् द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।<sup>२</sup>

द्रव्यानुयोग-करणानुयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग का वर्णन - द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म उपदेश की प्रधानता हो, वहाँ व्यवहार धर्म का भी निषेध करते हैं। उस उपदेश का प्रयोजन अशुभ में लगाने का नहीं है, बल्कि शुद्धोपयोग में लगाने के लिए शुभोपयोग का निषेध करते हैं।...

द्रव्यानुयोग में आत्म परिणामों की मुख्यता से निरूपण करते हैं; परन्तु करणानुयोगवत् सूक्ष्म वर्णन नहीं करते; जैसे - उपयोग के शुभ,

१. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, २६८

२. समयसार, कलश-९

अशुभ, शुद्ध - ऐसे तीन भेद कहे हैं; वहाँ धर्मानुरागरूप परिणाम वह शुभोपयोग - ऐसा कहा है।...

करणानुयोग में तो रागादि रहित शुद्धोपयोग, यथाख्यातचारित्र होने पर होता है, परन्तु वह मोह के नाश से स्वयमेव होगा; निचली अवस्थावाला (बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान और ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानवाले) शुद्धोपयोग का साधन कैसे करें?

तथा द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है; इसलिए वहाँ छद्मस्थ जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर (चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती जीव) आत्मानुभवन आदि कार्यों में प्रवर्ते, उस काल में उसे शुद्धोपयोग कहते हैं। यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म रागादिक हैं, तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की; वह अपने बुद्धिगोचर रागादिक छोड़ता है, इस अपेक्षा उसे (चतुर्थ-पंचमादि गुणस्थानवर्ती को) शुद्धोपयोगी कहा है।<sup>३</sup>

जिन सर्वज्ञ के ज्ञान में शुद्ध वीतरागतरूप सम्यक्त्वाचरणचारित्र अथवा स्वरूपाचरणचारित्र और संयमाचरणचारित्र (सराग चारित्र) - दोनों प्रतिबिम्बित हुए हैं तथा स्वरूपाचरणचारित्र (सम्यक्त्वाचरण-चारित्र) की घातक अनन्तानुबन्धी कषाय है और संयमाचरणचारित्र की घातक अप्रत्याख्याना व प्रत्याख्यानादि कषायें हैं।<sup>२</sup>

सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं - १. स्वरूपाचरणचारित्र एवं २. संयमाचरणचारित्र। संयमाचरणचारित्र के दो भेद हैं - एकदेशचारित्र और सर्वदेशचारित्र। इनमें से जघन्य स्वरूपाचरणचारित्र, चतुर्थ गुणस्थान

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २८४ से २८६

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१२ से २१४, भावार्थ; टीकाकार पण्डित मुन्नालालजी राधेलीय वर्णा, शास्त्री, न्यायतीर्थ।

में प्रगट होता है।... जितना-जितना कषायों का अभाव होता जाता है, उतना-उतना ही उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण का विकास होता जाता है। दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी का अभाव होने पर उतने अंश में जघन्य स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है।<sup>१</sup>

सम्यग्दर्शन का अविनाभावी होने से स्वरूपाचरणचारित्र को ही सम्यक्त्वाचरणचारित्र नाम दिया गया है। इस सम्बन्ध में पंचाध्यायीकार लिखते हैं -

**सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान - ये दोनों चारित्र में गर्भित होते हैं, क्योंकि तीनों का परस्पर अविनाभाव संबंध होने से ये तीनों अखण्डित हैं।<sup>२</sup>**

यह सम्यक्त्वाचरणचारित्र का ही माहात्म्य है कि जो (सर्वप्रथम) ज्ञानी होकर, सम्यक्त्वाचरणचारित्र से शुद्ध होता है तथा यदि वह संयमाचरणचारित्र से भी सम्यक् प्रकार शुद्ध हो तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।<sup>३</sup>

‘समयसार’ गाथा ३२० की ‘तात्पर्यवृत्ति टीका’ लिखने के पश्चात् मोक्ष अधिकार की चूलिका में **आचार्य जयसेन स्पष्टरूप से लिखते हैं -** जब कालादिलब्धि के वश से (सर्वप्रथम चतुर्थ गुणस्थान में) भव्यत्वशक्ति व्यक्त होती है; तब वह जीव सहजशुद्ध-पारिणामिकभाव लक्षणवाले निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप पर्याय से परिणमित होता है। **उस परिणमन को आगमभाषा में औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभाव ‘भावत्रय’**

१. आचार्य अमृतचन्द्रकृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की पण्डित टोडरमलजी कृत भाषा टीका के आधार पर क्षुल्लक धर्मानन्दजी कृत हिन्दी टीका, श्लोक २१२ से २१४।

२. पंचाध्यायी, अध्याय-२, श्लोक-७६५

३. अष्टपाहुड़, चारित्रपाहुड़, गाथा ९ एवं १० भावार्थ।

कहते हैं एवं उसे ही अध्यात्मभाषा में शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायवाची नामों से अभिहित किया जाता है, लेकिन वह पर्याय, शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षणवाले शुद्धात्मद्रव्य से कथञ्चित् भिन्न हैं।<sup>१</sup>

इस विवेचन से श्रीमद् जयसेनाचार्य ने यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया कि शुद्धोपयोग से ही चतुर्थ आदि गुणस्थान प्रगट होते हैं अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता ही होता है। उस शुद्धोपयोग को ही निश्चय सम्यक्त्व, स्वरूपाचरणचारित्र अथवा अभेद रत्नत्रय आदि कहा जाता है।

इसप्रकार इस सम्पूर्ण चर्चा को विराम देते हैं। हम सब सम्यक्पुरुषार्थ पूर्वक भगवान् आत्मा का आश्रय लेकर पूर्ण सिद्ध अवस्था प्रगट करें - ऐसी मंगल भावना है। ●

**अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।**

**अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भविव्यम् ॥७८॥**

अमृत अर्थात् मोक्ष का कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन प्राप्त करके अज्ञानी जीवों का असंगत वर्तन देखकर व्याकुल नहीं होना चाहिए।

आप तो अहिंसा धर्म का साधन करता है और कोई मिथ्यादृष्टि अनेक युक्तियों से हिंसा को धर्म ठहराकर उसमें प्रवर्तन करे तो उसकी कीर्ति देखकर स्वयं को धर्म में आकुलता उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।

अथवा कदाचित् आपके तो पूर्वबद्ध बहुत पाप के उदय से असाता उत्पन्न हुई हो और उसके तो पूर्व बहुत पुण्य के उदय से किञ्चित् (किसीप्रकार) साता उत्पन्न हुई हो तो भी हमें उदयावस्था का विचार करके धर्म में आकुलता नहीं करना चाहिए। **-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पृष्ठ १०८**

१. समयसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा ३२० की टीका के बाद मोक्ष अधिकार की चूलिका, समयसार वचनिका, पृष्ठ ७४१

### मिथ्यात्व छोड़कर अपना कल्याण करो

जिनधर्म में यह तो आमनाय है कि पहले बड़ा पाप छोड़ाकर फिर छोटा पाप छोड़ाया है; इसलिये इस मिथ्यात्व को सप्तव्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छोड़ाया है। इसलिये जो पाप के फल से डरते हैं, अपने आत्मा को दुःखसमुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो; निन्दा-प्रशंसादिक के विचार से शिथिल होना योग्य नहीं हैं :-

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु  
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।  
अद्यैव वास्तु मरणं तु युगान्तरे वा  
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥८४॥ (नीतिशतक)

कोई निन्दा करता है तो निन्दा करो, स्तुति करता है तो स्तुति करो, लक्ष्मी आओ व जहाँ-तहाँ जाओ, तथा अभी मरण होओ व युगान्तर में होओ; परन्तु नीति में निपुण पुरुष न्यायमार्ग से एक डग भी चलित नहीं होते।

ऐसा न्याय विचारकर निन्दा-प्रशंसादिक के भयसे, लोभादिकसे, अन्यायरूप मिथ्यात्व प्रवृत्ति करना युक्त नहीं है।

अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधार से धर्म है। इनमें शिथिलता रखने से अन्य धर्म किस प्रकार होगा? इसलिये बहुत कहने से क्या? सर्वथा प्रकार से कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना योग्य है।

कुदेवादिक का त्याग न करने से मिथ्यात्वभाव बहुत पुष्ट होता है और वर्तमान में यहाँ इनकी प्रवृत्ति विशेष पायी जाती है; इसलिये इनका निषेधरूप निरूपण किया है। उसे जानकर मिथ्यात्वभाव छोड़कर अपना कल्याण करो।

- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-१९२